

सांप्रदायिकता और आतंकवाद

खुशींद अनवर



सांप्रदायिकता
और
आतंकवाद

खुशीद अनवर

सांप्रदायिकता और आतंकवाद
(पुस्तिका सीरीज़—60)

प्रकाशक :

इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस,

62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका,

नई दिल्ली-110067, भारत

टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com

वेबसाइट : www.isd.net.in / www.sach.org.in

मुद्रक :

डिजाइन्स एंड डाइमेंशन्स

एल-5 ए, शेख सराय, फेज़-2

नई दिल्ली-110017

प्रकाशन वर्ष : 2014

केवल सीमित वितरण के लिए

कट्टरपंथ से मुठभेड़ के दस्तावेज़

खुर्शीद अनवर की ज़िन्दगी लंबी नहीं रही लेकिन उनका सामाजिक-राजनीतिक कार्यकर्ता का जीवन लंबा रहा। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय कैम्पस उनकी शिक्षा का ही नहीं बल्कि उनकी राजनीतिक शिक्षा का भी गवाह बना। ए.आई.एस.एफ. से लेकर तमाम सामाजिक संगठनों की कतारों से गुज़रते हुए उनका सफ़र जब इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी के मुकाम पर पहुँचा तो जैसे सामाजिक सक्रियता, राजनीतिक सोच और सांस्कृतिक चिंतन आपस में घुल मिल गये।

उनके सामाजिक हस्तक्षेप का आखिरी और शायद सबसे कीमती दौर शुरू होता है 2002 से। गुजरात जनसंहार ने उनकी दुनिया बदल कर रख दी थी। जनसंहार के बाद चल रहे सहायता अभियानों में सक्रिय भूमिका निभाते हुए उनके मन में कुछ सवाल आकार लेने लगे। दंगों या प्रकट सांप्रदायिक हिंसा के अतिरिक्त सांप्रदायिकता की बनावट और बुनावट कैसी है? क्या जब सांप्रदायिक हिंसा न हो रही हो तब उसे शांति काल कहा जा सकता है? इस 'शांति काल' में पसरे हुए सामाजिक तनाव क्या ज्यादा खतरनाक नहीं है और क्या ये ही हिंसा को जन्म नहीं देते? इन सवालों से जूझते हुए उन्हें महसूस हो रहा था कि सांप्रदायिकता के विरोध में हमारी सक्रियता प्रतिक्रिया मात्र ही है और दंगों के बाद के सहायता कार्यक्रमों और शांति जुलूसों तक ही सिमटी हुई है। उन्हें महसूस हो रहा था कि सांप्रदायिकता विरोध कोई आन्दोलन नहीं हो सकता है। आन्दोलन तो शांति और सद्भाव का हो सकता है। एक सेकुलर आन्दोलन का विकास ही हमें लंबे दौर में सांप्रदायिकता और हिंसा से निजात दिला सकता है।

सांप्रदायिकता और सांप्रदायिक हिंसा के बारे में सोचते हुए उनका दायरा बढ़ता गया। क्रमशः इस दायरे में केवल सांप्रदायिकता ही नहीं बल्कि हमारे समाज के अन्य तनाव व टकराव भी शामिल होते गये। जाति, जेन्डर, भाषा और क्षेत्रीयता से लेकर विकास के कॉरपोरेटी मॉडल से पनपने वाले सामाजिक तनाव

उनके चिंतन का हिस्सा बनते गये। उन्होंने महसूस किया कि ये तनाव और टकराव जितने गहरे तक जड़ जमाये हैं उनसे मुकाबला केवल प्रतिरोध के मार्फत नहीं हो सकता। इसके लिये हमें रचनात्मक संवाद के नये औजार विकसित करने होंगे। ये औजार प्रतिरोध के एक आयामी दायरे से निकलकर सर्जना की बहुआयामी बुनावट तक जाएंगे। दुश्मन से मुकाबले की जगह दोस्तों की संख्या बढ़ाते जाना इसकी कार्यपद्धति का केन्द्र बिन्दु होगा। यह कहने की शायद जरूरत नहीं है कि खुर्शीद प्रतिरोध आन्दोलनों या सहायता कार्यक्रमों की अहमियत को नकार नहीं रहे थे बल्कि उनका समावेश करते हुए एक ऐसे धनात्मक कार्यक्रम पर बल दे रहे थे जो लगातार चलता रहे और उसे अपनी सक्रियता के लिये दंगों का इन्तज़ार न रहे। खुर्शीद एक शांति आन्दोलन, एक सेकुलर महाज्र खड़ा करना चाहते थे। इसी उद्देश्य के लिये उन्होंने 'साझी विरासत' की अवधारणा का एक सांस्कृतिक औजार के रूप में विकास किया। आई.एस.डी. की स्थापना भी इसी चिंतन प्रक्रिया और खोज का नतीजा है।

साझी विरासत के औजार का इस्तेमाल कैसे हो ? इसके लिये सांस्कृतिक दस्तावेज़ीकरण, प्रकाशन, सांस्कृतिक कार्यक्रम, सतत सामाजिक-सांस्कृतिक हस्तक्षेप, जनान्दोलनों से जुड़ाव और सहभागितापरक कार्यशालाओं का एक सिलसिला चल पड़ा। खुर्शीद ने 'साझी विरासत' की अवधारणा के विकास और प्रसार में अपने को उड़ेल दिया। लगातार अध्ययन, कार्यशालाओं के लिये माड्यूलों का विकास और यात्राएँ, संवाद और अपने को समृद्धतर करते जाना... खुर्शीद दिन-रात काम करने लगे। इस दौरान उन्होंने पूरे देश में साथियों की एक टीम भी जोड़ ली जो हर कदम पर उनके साथ थी। सहभागितापरक कार्यशालाओं के वे उस्ताद थे। बिन्दु से बिन्दु और सूत्र-सूत्र जोड़ते हुए वे संवाद का ऐसा रचनात्मक माहौल रचते थे जो दिमाग ही नहीं दिल को भी छू जाये। इसी क्रम में उन्होंने बच्चों के साथ 'साझी विरासत' पर संवाद विकसित करने की दिशा में कदम उठाये। बच्चों के लिये भी संस्कृति की परतों को टटोलना वे जरूरी समझते थे। रचनात्मक संवाद का यह मॉडल खुर्शीद की उस समालोचना के साथ तालमेल में था जो कि उन्होंने सांप्रदायिकता विरोधी आन्दोलन के बारे में तैयार की थी। यह मॉडल लगातार और रोजमर्रा के काम से जुड़ा था। यहाँ समझना ही प्रतिरोध है और संवाद एक हस्तक्षेप।

साझी विरासत पर काम करते हुए उन्होंने सिर्फ हिन्दुस्तान ही नहीं बल्कि समूचे दक्षिण एशिया की संस्कृति के तमाम पहलुओं को समझने की कोशिश की। उनकी सक्रियता का दायरा भी पूरे दक्षिण एशिया तक फैला था। इस रूप में

खुर्शीद समूचे दक्षिण एशिया के नागरिक बन चुके थे। भारत में भी उन्होंने अपने आपको किसी खास ज़मीन से बांधे नहीं रखा। कश्मीर से दक्षिण भारत तक और उत्तर पूर्व से लेकर हिमाचल तक उनके संवादी स्वर की गूँज से भर गये। संस्कृति के उदात्त पहलुओं का विकास और हर तरह के कट्टरपंथ का विरोध जैसे उनकी ज़िन्दगी का अर्थ हो गये। इसी दौरान उन्होंने कट्टरपंथ की जड़ों को समझने की कोशिश की। उनके लिये साफ था कि कट्टरपंथ किसी का षड्यन्त्र नहीं है बल्कि हमारी साज़ी विरासत के नकारात्मक पहलुओं की पैदाइश है। इसलिये हर तरह का कट्टरपंथ एक दूसरे का सहयोग करता है। इस रूप में हिन्दुत्व और वहाबीपंथ एक दूसरे के पूरक हैं। कट्टरपंथ और नकारात्मक साज़ी विरासत के दायरे में ही उन्होंने आतंकवाद को भी समझने की कोशिश की।

पिछले तकरीबन बारह साल खुर्शीद के तूफानी साल थे। लगातार अध्ययन, कार्यशालाएं, माड्यूल तैयार करना, सम्पादन, यात्राएं, संवाद और सांगठनिक दायित्व की वजह से उनका लेखक कहीं उपेक्षित होता रहा। कभी समर्थ और SACH के पृष्ठों पर ही उनकी कलम की स्याही थोड़ी दिख जाती। खुर्शीद के सारे दोस्त उनसे बहुत इसरार करते और झगड़ते भी थे कि वे नियमित रूप से लिखें, ख़ासकर अख़बारों के लिये। लेकिन खुर्शीद अपनी मसरुफ़ियत का बहाना लेकर टाल जाते। हम उनसे लगातार कहते कि साहित्य-संस्कृति और राजनीति पर उनका समान अधिकार है और उन्हें ज़्यादा बड़े पाठक वर्ग को सम्बोधित करना चाहिये। आख़िरी यह संयोग 'जनसत्ता' के पृष्ठों पर घटित हुआ। वरिष्ठ सम्पादक ओम थानवी जी के कहने पर उन्होंने 'जनसत्ता' के लिये नियमित लेख लिखने शुरू किये। इन लेखों का बहुत स्वागत हुआ और साथ ही साथ कट्टरपंथियों ने गालियों और धमकियों से भी नवाजा। इन धमकियों में एक वास्तविक ख़तरा भी छुपा हुआ था, जिस पर बात करने पर वे अपनी फ़कड़ाना हंसी से उसका जवाब देते। कौन जाने उनकी नावक्रत मौत का रिश्ता इन धमकियों से भी हो! बहरहाल। जनसत्ता में खुर्शीद का आख़िरी लेख उनके जाने के तीन दिन बाद छपा। आख़िरी वक्रत तक योजनाओं और रचनात्मकता से छलकती एक कलम ख़ामोश हो गई।

जनसत्ता में छपने वाले ये लेख मुख्य रूप से सांप्रदायिकता और आतंकवाद पर केन्द्रित थे। इन लेखों में दक्षिण एशिया में कट्टरपंथ, उसके अन्तर्राष्ट्रीय जुड़ाव और आतंकवाद के रूप में उसकी परिणति की गहरी पड़ताल की गई। इन लेखों को सरसरी तौर पर राजनीतिक लेखों के रूप में ही देखा जा सकता है लेकिन अगर हम इनकी गहरी जांच करें तो पाएंगे कि इनमें 'साज़ी विरासत' के अध्येता

की एक गहरी अन्तर्दृष्टि मौजूद है। इनमें कट्टरपंथ के खिलाफ़ गहरी नफ़रत तो है ही उसकी एक सांस्कृतिक समालोचना भी मौजूद है। इन लेखों को लिखने की तारीख के क्रम में प्रस्तुत नहीं किया गया है बल्कि उस रूप में रखा गया है जिससे विषय का विकास समझ में आये। इस रूप में ये सिर्फ़ लेख नहीं हैं। खुर्शीद की कट्टरपंथ से सीधी मुठभेड़ के दस्तावेज़ हैं। कट्टरपंथ और आतंकवाद के अलावा महिलाओं के मुद्दे पर खुर्शीद लगातार सोच रहे थे, लिख रहे थे और उसे एक्शन में ला रहे थे। इसी के प्रतीक स्वरूप दिल्ली बलात्कार कांड पर लिखी उनकी टिप्पणी भी दी गई है।

हम खुर्शीद अनवर को याद करते हुए उनका यह संकलन आपको सौंप रहे हैं। उनके जाने के बाद उभरे शून्य से उबरना और फिर उनका झंडा उठा लेना बहुत मुश्किल था लेकिन हमने यह किया। यह संकलन पूर्ण नहीं है हो सकता है उनका लिखा हुआ कुछ और मिले तो हम उसे अगले संस्करण में प्रकाशित करेंगे। इस किताब के साथ हम खुर्शीद अनवर की एक और पुस्तक प्रकाशित कर रहे हैं 'हम वापस आएँगे'। यह पुस्तक उनकी स्वरचित और अनूदित कविताओं, डायरियों, लघुकथाओं और संस्मरणों का संकलन है।

आइये ! अब खुर्शीद से बस उनकी रचनाओं और काम के मार्फ़त ही हम मिल सकते। हमें इस बात का फ़ख़ है कि हमारे दोस्त, हमारे लीडर खुर्शीद अनवर आख़िरी दम तक रचनारत रहे। यह किताब हमारे नाम उनका आख़िरी पैग़ाम है।

—आई.एस.डी. टीम

एक मानसिकता दो चेहरे

‘होना तो ये चाहिए कि हिंदुस्तान में जितने मुसलमान हैं उन्हें भारत की सरकार शूद्र या म्लेच्छ का दर्जा दे और मनु के कानून इन मुसलमानों पर लागू हों। उन्हें सरकार के किसी महकमे में न रखा जाए, और उनसे नागरिकता का अधिकार भी छीन लिया जाए।’

इसे पढ़ कर कोई भी यह कहेगा कि यह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का कोई वक्तव्य है, मगर उस संगठन का वक्तव्य गुरु गोलवलकर के शब्दों में इस प्रकार है ‘भारत से आए तमाम विदेशियों को चाहिए कि वे हिंदू संस्कृति और भाषा अपनाएं, हिंदू धर्म के प्रति सम्मान और आस्था दिखाएं। वे हिंदू पहचान अपना लें और इस देश में बिना किसी मौलिक या नागरिकता के अधिकार के साथ रहें।’ यह उद्धरण ‘वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाईंड’ से लिया गया है। लेकिन पहला वक्तव्य जो बिल्कुल इसी विचार की प्रतिध्वनि लगता है, वह है मौलाना मौदूदी का, जिन्हें दारुल उलूम देवबंद से लेकर पाकिस्तान, अफ़गानिस्तान और सऊदी अरब के वहाबी समर्थक बड़ी इज्जत से याद करते हैं और उनके चिंतन और लेखन को अपनी जीवन शैली बनाते हैं।

मौलाना मौदूदी ने उपरोक्त वक्तव्य 1953 में अहमदिया समुदाय विरोधी दंगों के बाद गठित जांच आयोग के सामने दिया था। याद रहे कि मौलाना मौदूदी को अहमदिया समुदाय के क्रल्लेआम के जुर्म में फांसी की सज़ा हुई थी, जिसे सऊदी अरब के हस्तक्षेप पर रद्द कर दिया गया था।

यहां बहस का मुद्दा मौलाना मौदूदी या गुरु गोलवलकर नहीं हैं, यहां बहस उस विचारधारा पर है जिससे नफ़रत के बीज फैलते हैं और कट्टरपंथी विचारों के व्यक्ति और संगठन पनपते हैं। जहां एक तरफ अनगिनत सरस्वती शिशु मंदिर फल-फूल रहे हैं और दिमागों में जहर घोल कर नवयुवकों के हाथ में त्रिशूल और बम पकड़ा देते हैं वहीं दूसरी तरफ इस्लामी शिक्षा के नाम पर और

इस्लाम को फैलाने के नाम पर भी उन्हें गुमराह किया जाता है और पैदा होते हैं उसी किस्म के दरिंदे जो धर्म के नाम पर खुद को भी खत्म कर लेते हैं और सारी दुनिया को खत्म कर देने का खतरा बन बैठते हैं। वहाबियत की शिक्षा भी वही काम करती है, जो सरस्वती शिशु मंदिरों की शिक्षा करती आई है। आज केवल पाकिस्तान में मदरसों, कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में जहरीली शिक्षा नहीं दी जा रही, बल्कि हिंदुस्तान में भी यही सिलसिला चल रहा है।

एक उदाहरण लेते हैं दारुल उलूम देवबंद का, जिसे इस्लाम का सबसे बड़ा शिक्षा केंद्र माना जाता है। खुद दारुल उलूम की वेबसाइट कहती है दारुल उलूम में 'दुनियावी विज्ञान के पढ़ाने जैसी किसी व्यवस्था के लिए कोई स्थान नहीं है इस पर विरोध करने वालों के लिए स्पष्ट जवाब यह है कि सबसे पहले मर्ज का इलाज होना चाहिए, मर्ज हो ही न तो उसका इलाज करवाना बेकार है। ...इन सरकारी स्कूलों का औचित्य ही क्या है। अगर आसमानी साइंस का उपयोग हो ही न तो फायदा ही क्या है।' अब ज़रा देखिए कि साइंस के नाम पर यहां किताबें कौन-सी पढ़ाई जाती हैं। सहीह-ए-बुखारी, सहीह-ए-मुस्लिम, जामा-ए-तिमरीजी, सुनान-ए-अबी-दाऊद, सुनान-ए-नासई वगैरह। और जिन विद्वानों को यहां खासतौर पर वैज्ञानिक और समाजशास्त्री के रूप में पढ़ाया जाता है वे कुछ इस तरह हैं—हजरत गंगोही, हजरत शेखुल-हिंद और सय्यद अनवर शाह कश्मीरी।

ऐसा ज्ञान हासिल करके जब स्नातक दारुल उलूम से निकलता है तो उसकी मानसिकता क्या होती होगी इसका अंदाजा आसानी से लगाया जा सकता है। इतना ही नहीं, दारुल उलूम के पाठ्यक्रम संकाय का कहना है—'गैर-मुस्लिम ज्ञान प्राप्त करता है दुनिया में मिलने वाली सत्ता, महानता, विकास और श्रेष्ठता के लिए। गैर-मुस्लिमों के लिए ज्ञान धन-दौलत पाने का एक साधन है, लेकिन एक मुस्लिम के लिए शिक्षा जीवनयापन कभी नहीं होती, बल्कि अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति होती है।' ये उद्धरण इंटरनेट पर मौजूद दारुल उलूम के 'एजुकेशनल फीचर्स ऑफ दारुल उलूम' से लिए गए हैं।

अजीब इतिहास है कि कराची (पाकिस्तान) स्थित दारुल उलूम में हू-ब-हू यही शिक्षा दी जाती है। वही पाठ्यक्रम और वही शिक्षण पद्धति। जिस तरह दारुल उलूम, देवबंद के मदरसे पूरे देश में फैले हुए हैं उसी तरह दारुल उलूम, कराची के मदरसे भी पूरे पाकिस्तान में फैले हुए हैं। हालांकि दारुल उलूम, देवबंद ने इस बात से इनकार किया है कि उन्हें कोई पैसा सऊदी अरब से आता है, लेकिन दारुल उलूम, कराची ने इस बात से कभी इनकार नहीं किया। दारुल

उलूम, कराची को एक तरफ सीधे सऊदी अरब से पैसा लेने की सरकारी इजाजत मिली हुई है तो दूसरी तरफ सिपाह-ए-सहबा और अल-क्रायदा को मिलने वाले पेट्रोडॉलर भी खुलेआम इस शिक्षण संस्थान को पहुंचते हैं। हिंदुस्तान और पाकिस्तान के दारुल उलूम में एक ही बड़ा अंतर है और वह यह कि देवबंद का दारुल उलूम किसी भी तरह की हथियारबंद ट्रेनिंग से दूर है, लेकिन कराची के दारुल उलूम में शिक्षा हासिल कर रहे नवयुवकों को सिपाह-ए-सहबा और अल-क्रायदा की सरपरस्ती में हथियारबंद प्रशिक्षण भी दिया जाता है। मगर जहां तक विचारधारा का सवाल है, तमाम ऐसे मदरसे और इन मदरसों से निकलने वाले अतिवादी इस्लाम के अनुयायी दारुल उलूम, देवबंद से ही प्रेरणा लेते हैं।

दारुल उलूम, देवबंद ने पूरी तरह से वहाबी होने पर भी कुछ ऐसा रवैया अख़्तियार किया हुआ है कि 'साफ छिपते भी नहीं सामने आते भी नहीं'। मगर देवबंदी विद्वान मौलाना मंजूर नोमानी की 'स्पष्टवादिता' इस बात का खुलासा कर देती है कि दारुल उलूम सिर्फ और सिर्फ वहाबी विचारधारा का केंद्र है। उनके अनुसार 'इन तथाकथित मुसलमानों पर हमें नज़र रखनी चाहिए, जो मज़ारों और ताज़ियों की इबादत करते हैं। शैतान ने इनके दिलों में मुशरीकाना हरकत बैठा दी है कि वे कुरान और हदीस की बातों पर यकीन नहीं रखते। इन तथाकथित मुसलमानों पर नज़र डालने के बाद ही हमें शिर्क (एकेश्वरवाद में यकीन न रखना) का मतलब समझ में आता है। अगर ऐसे मुसलमान समाज में मौजूद न होते तो हम शिर्क का मतलब ही मुश्किल से समझते' (देवबंद से निकलने वाली पत्रिका 'अल फुरकान' के संपादकीय में ये बातें मौलाना नोमानी ने लिखीं)।

जाहिर है कि केवल वहाबी ऐसा समुदाय है, जो मज़ारों पर जाने और ताज़ियादारी को मूर्तिपूजा की श्रेणी में रखता है। ताज़ियादारी शिया मुसलमानों की आस्था का अभिन्न अंग है और मुहर्रम के महीने की पहली तारीख से शुरू होकर अगले दो महीने आठ दिन तक ताज़ियादारी का सिलसिला चलता है। इसके अस्तित्व के बिना शिया समुदाय अपनी पहचान नहीं बनाए रख सकता। साफ मतलब है कि दारुल उलूम, देवबंद ने शिया सहित तमाम ऐसे मुसलमानों को इस्लामी दायरे से खारिज कर दिया, जो वहाबी उसूलों और विचारधारा से सहमत न हों। इनमें सुन्नी समुदाय का बरेलवी विचारधारा में विश्वास रखने वाला वह हिस्सा भी है, जो वहाबी मुसलमानों के मुकाबले कहीं बड़ा है।

जहां एक तरफ वहाबी समुदाय सुन्नियों के बीच मुश्किल से दस फीसद होगा, वहीं बरेलवी विचारधारा के मानने वाले लगभग अस्सी फीसद हैं। लेकिन बरेलवी विचारधारा में विश्वास रखने वाले सुन्नी समुदाय ने न कभी मज़ारों और

ताजियादारी के खिलाफ कुछ कहा, और न जिहाद की व्याख्या ऐसे की, जिसमें क्रतल और खून शामिल हो। इसके ठीक उलट देवबंदी विचारधारा आतंकवादी संगठनों के समर्थन में खड़ी होती है, जिसका जिक्र साफ तौर पर सात सितंबर की अपनी एक रिपोर्ट में 'द डॉन' ने किया है।

हालांकि देवबंद ने आतंकवाद के समर्थन में कभी कोई शब्द बोला नहीं, बल्कि इस बात का खंडन किया है कि आतंकवाद से उनका कुछ लेना-देना है, बल्कि उसके खिलाफ वक्तव्य भी जारी किया है, लेकिन पाकिस्तान में मौजूद न केवल तमाम आतंकवादी संगठन और उसके कार्यकर्ता देवबंदी विचारों से प्रभावित रहे हैं, बल्कि पाकिस्तानी समाज भी इस बात से इनकार नहीं करता कि देवबंदी प्रभाव ही आतंकवाद की जड़ में है। देवबंद के लिए कोई नई बात नहीं है कि वह वक्तव्य कुछ और जारी करे और गतिविधियां कुछ और चलाए। यह काम बड़ी चालाकी से भी किया जाता है। इंटरनेट पर मौजूद देवबंद की वेबसाइट अगर दो भाषाओं में अलग-अलग देखी जाए तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है।

अगर आप उर्दू लिपि में इस वेबसाइट को देखें तो आपको देवबंद के बारे में जो जानकारी मिलेगी उसमें उसका काम इस्लाम और उसका प्रचार, शिक्षा और ऐसे नवयुवक तैयार करना मिलेगा, जो इस्लामी मूल्यों को और अल्लाह और मुहम्मद द्वारा कही गई बातों को सीखें और उसका प्रचार करें। लेकिन अगर इसी वेबसाइट पर हिंदी पृष्ठ देखें तो तस्वीर बिल्कुल अलग नज़र आएगी। आपको 1857 का भी जिक्र मिलेगा, देशभक्ति का भी जिक्र मिलेगा और स्वतंत्रता संग्राम में दारुल उलूम की भूमिका के बारे में भी लिखा हुआ मिलेगा। यहां तक कि आपको ओड़िशा के पूर्व (1983-88) राज्यपाल विश्वंभरनाथ पांडे के लेख का भी जिक्र मिलेगा जिसमें स्वतंत्रता संग्राम में दारुल उलूम, देवबंद की भूमिका के बारे में बताया गया है। उद्देश्य स्पष्ट है। मुसलमानों तक जो संदेश पहुंचे वह कट्टरवादी इस्लाम का; और हिंदी पृष्ठ पर दिखाई देंगे हाथी के दांत जो दिखाने के लिए ही हैं, जिससे उन्हें चौतरफा समर्थन प्राप्त हो और उन पर अंगुली न उठाई जा सके।

दारुल उलूम, देवबंद सारे काम खुद अंजाम नहीं देता। जिस तरह राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के एक नहीं अनेक हाथ हैं उसी तरह देवबंद ने भी बहुत पहले इसकी शुरुआत कर दी थी। इस्लाम के नाम पर जहर फैलाने और दरवाजे-दरवाजे जाकर प्रचार करने के लिए 1926 में देवबंद से शिक्षा पाकर मोहम्मद इलियास, अल-कंधन्वी ने तब्लीगी जमात की नींव डाली।

भारत में सूफ़ी संतों और उनकी मज़ारों के खिलाफ़ अभियान की शुरुआत तब्लीगी जमात ने ही की थी। पाकिस्तान में तब्लीगी जमात, सिपाह-ए-सहबा और अल-क्रायदा की इस्लामी प्रचारक के रूप में देखी जाती हैं। इनका काम है घर-घर जाकर शिक्षा से वंचित मुसलमानों में मनगढ़ंत बातों का प्रचार करके उन्हें कट्टर बनाना। और जब यह नींव पक्की हो जाए तो आतंकी संगठन इसका फायदा उठाते हुए इनके हाथों में बंदूक पकड़ा देते हैं।

कितनी समानता है विचारों और गतिविधियों में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और इन वहाबी संगठनों के बीच। संघ अपने को सांस्कृतिक संगठन बताता है और शाखाएं लगा कर डंडा, लाठी और दंगल के खेल सिखाता है। शिक्षण संस्थान खोलता है और उनमें ऐसे पाठ्यक्रम शामिल करता है जिनसे मासूम दिमागों में जहर घुलता रहे। दूसरी तरफ विश्व हिंदू परिषद, बजरंग दल और दुर्गावाहिनी जैसे संगठन हैं, जो त्रिशूल और बमों, बारूद और अन्य हथियारों से आग और खून का खेल खेलते हैं। दोनों ही तरह के ये संगठन एक दूसरे के पूरक भी हैं। एक ही जैसी व्यवस्था भी चाहते हैं। एक को हुकूमत-ए-इलाहिया चाहिए और दूसरे को हिंदू राष्ट्र।

आज ज़रूरत इस बात की है कि हिंदुस्तान में जो सांप्रदायिकता का जहर फैल रहा है—जिसका ताजा उदाहरण पश्चिमी उत्तर प्रदेश के दंगे हैं— उसमें ऐसे शिक्षण संस्थानों (दारुल उलूम देवबंद और उससे जुड़े मदरसे, संघ के अनगिनत सरस्वती शिशु मंदिर और अन्य शिक्षण संस्थान) की भूमिका की पहचान की जाए और बच्चों में संकीर्णता कूट-कूट कर भरने के बजाय उन्हें वैज्ञानिक सोच की तरफ लाया जाए।

‘जनसत्ता’ (16 दिसम्बर, 2013) में प्रकाशित।

दहशतगर्दी और सांप्रदायिकता

एक सांप्रदायिकता किस तरह दूसरी सांप्रदायिकता की सहयात्री और सहायक बनती है इसकी भूमिका एक बार फिर लिखी जानी शुरू हो चुकी है। जम्मू-कश्मीर में आतंकवादी हमले, पाकिस्तान में वहाबियत का ताण्डव, मोदीनामा लिखा जा रहा है हिन्दुस्तान में और उसको मजबूती दे रहे हैं अल-क्रायदा और उसके सहयोगी संगठन। जितना आतंकवाद बढ़ेगा उतनी ही मजबूत होगी हिन्दुस्तान में सांप्रदायिकता की राजनीति।

जब भी पाकिस्तान की सीमा के अंदर आतंकवाद जोर पकड़ता है, उसकी परछाई हिन्दुस्तान पर पड़ने लगती है। ईसाइयों पर हमला हो तो भी एक सोच मजबूत होने लगती है कि क्रांतिल हैं तो आखिर मुसलमान (जबकि यह सोच सिरे से गलत है क्योंकि सारे आतंकवादी संगठन वहाबी समुदाय से ताल्लुक रखते हैं बाकी किसी मुस्लिम समुदाय से नहीं), जो कि आतंकवादी गतिविधियों को अंजाम दे रहे हैं। और जब यही संगठन भारत की सीमा में घुस कर खून बहाते हैं तो चाहे उसमें मुसलमान भी बराबर मारे जायें, सारे मुसलमान शक के दायरे में आते हैं और मौक़ा मिलता है, हिंदुत्व को अपना एजेंडा आगे बढ़ाने का।

गुजरात के 2002 के जनसंहार का ही उदाहरण लें। किन परिस्थितियों में वह सब हुआ? एक अक्टूबर 2001 को जम्मू-कश्मीर विधानसभा भवन पर जैश-ए-मोहम्मद के आतंकी हमला करते हैं जिसमें 38 हिन्दुस्तानी और चार आतंकी मारे जाते हैं। पूरे देश में रोष फैलने लगता है। आतंकवाद और इस्लाम को लगभग एक जैसा देखना शुरू कर दिया जाता है। यह तो जैसे भूमिका बन रही थी बड़े टकराव की। अमरीका के विश्व व्यापार केन्द्र पर हमले के फ़ौरन बाद 'दो सभ्यताओं के बीच टकराव' की बात की जाने लगी और फिर 'तुम हमारे साथ हो या फिर उनके साथ'। सन्देश क्या था और संबोधन किनके लिए।

सात अक्टूबर 2001 को 'ऑपरेशन एंड्यूरिंग फ्रीडम' शुरू हुआ और

अफगानिस्तान की धरती लाल होनी शुरू हुई। एक तरफ वर्दीधारी सिपाही तो दूसरी तरफ अमरीका के ही तैयारशुदा तालिबान जो अब भस्मासुर बन चुके थे। तत्कालीन उप-प्रधानमंत्री आडवाणी तुरंत बोले कि हम कब से आतंकवाद का शिकार हैं। सरकार अमरीका को हिन्दुस्तान से आक्रमण करने तक की पेशकश करने लगी थी। इसी दौरान 13 दिसंबर 2001 को लश्कर-ए-तैयबा और जैश-ए-मोहम्मद के आतंकियों ने भारतीय संसद पर हमला किया। भारत और पाकिस्तान की सीमा पर सेना का जमावड़ा हुआ और युद्ध जैसी स्थिति बनने लगी। जैसा की हमेशा होता है, जब भी सीमा पर तनाव बढ़ता है, मुल्क में सांप्रदायिक माहौल फ़ौरन तैयार होने लगता है। और इस समय तो 'दो सभ्यताओं के बीच टकराव' का नारा भी बुलंद हो चुका था।

आतंकवादी सामने थे और मुसलमान नाम से। इससे 'बेहतर' माहौल क्या हो सकता था! बस एक चिंगारी दरकार थी, जो सुलगी गोधरा में 27 मार्च 2002 को। तैयारियां भी जबरदस्त थीं। पूर्व नियोजित। जल उठा गुजरात। जांच आज भी बाक़ी है।

गुजरात न जलता तो आज नरेन्द्र मोदी नमो न बनते। प्रधानमंत्री का सपना तो दूर की बात है। इतिफ़ाक़ नहीं था। पता था कि 2002 में ही चुनाव होने हैं गुजरात में। ठीक चुनाव से पूर्व 24 सितम्बर 2002 को अक्षरधाम मंदिर पर आतंकी हमला। आतंकवादी इन्तज़ार भी तो कर सकते थे चुनाव संपन्न होने तक। एक तरफ जनसंहार की छाया पहले ही चुनाव को सांप्रदायिक रंग दे चुकी थी, ऊपर से इस हमले ने चुनाव के पहले ही नतीजे का एलान कर दिया। भाजपा को भारी बहुमत प्राप्त हुआ।

इन आतंकवादी संगठनों को अच्छी तरह पता है कि जितनी बार यह हमला करेंगे उतनी बार कट्टर हिन्दुत्ववादी ताक़तों के हाथ मज़बूत होंगे। इतना ही नहीं, हिन्दुस्तान का आम मुसलमान इन हमलों की चक्की में बिना वजह पिसेगा। यह अच्छी तरह जानते हैं कि हज़ारों बेगुनाह मुसलमान जेलों में सड़ेंगे। फिर क्या वजह है कि आतंकी हिंदुत्व को मज़बूत और हिन्दुस्तानी मुसलमानों को मुल्लिज़म और मुजरिम बना देते हैं। दरअसल यह खेल जानबूझ कर खेला जाता है। जो संगठन वहाबी, तबलीगी, जमाती के अलावा किसी को मुसलमान समझता ही न हो, वह उनकी परवाह क्यों करेगा ?

खुले तौर पर इन वहाबी आतंकियों ने एलान किया है कि वहाबी-सलफ़ी की नज़र में 'सुन्नी, शिया, ईसाई, यहूदी और वह सभी ग़ैर-मज़हबी हमारे दुश्मन हैं।' कहाँ लिखा और प्रकाशित हुआ यह? 'द अल-सुन्नाह

फाउन्डेशन ऑफ अमरीका' के स्थानीय दफ्तर बर्तन, मिशिगन में। 'जिहाद छेड़ने वाले अमरीका में कानूनी तौर पर दफ्तर चला रहे हैं? सऊदी पैसा इनको खुले तौर पर मिल रहा है? तो अचरज क्यों कि विश्व व्यापार केंद्र पर हमले से पहले जिन लोगों को इमारत में मौजूद होना था वह नेबरास्का स्थित एयरफोर्स बेस में बैठे हुए थे और इमारत के पांच माले दस सितम्बर को ही खाली हो चुके थे? इतना ही नहीं आज खुले तौर पर 'द अल-सुन्नाह फाउन्डेशन' अमरीका, इंग्लैण्ड (सेंट ऐंस रोड लन्दन), जर्मनी (ओबेरहाउसेन) से अमरीका और यूरोप में अपनी गतिविधियां चला रहा है और खुले आम एलान करके कि 'सुन्नी, शिया, ईसाई, यहूदी और सभी गैर-मजहबी हमारे दुश्मन हैं।' क्या अमरीका या इंग्लैण्ड और जर्मनी को इनके इरादों की खबर नहीं? यह भी बताना जरूरी है कि इन तमाम जगहों पर 'द अल-सुन्नाह फाउन्डेशन' के सारे कर्मचारी सऊदी मूल के हैं। क्या कहने की जरूरत है कि अल-क्रायदा, जैश-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-तैयबा के साथ इनके सीधे संपर्क हैं? ऐमान अल-जवाहिरी सऊदी अरब के जरिये इनका नेतृत्व करता है?

अब देखें कि इन दहशतगर्दों की मंशा क्या है और हिन्दुस्तान के हिन्दुत्ववादी संगठनों की मंशा क्या है वे कैसे एक-दूसरे के सहयोगी बनते आये हैं। मौदूदी का उदाहरण बहुत कुछ पहले ही स्पष्ट कर देता है। गुरु गोलवरकर की हिटलर से मोहब्बत किसी से छिपी नहीं। हिटलर आदर्श था उनका। जिस तरह हिटलर एक नस्ल, एक भाषा, एक राष्ट्र, एक जैसा साहित्य, एक जैसी किताब की बातें करता था, वैसा ही नजरिया गोलवरकर ने 'वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइंड' में पेश किया है। वहाबी विचारधारा भी इसी तरह की है। एक का काम दूसरे को वैधता और ताकत देता है। यह सिर्फ आज की बात नहीं है। इसका एक उदाहरण दंगों के राजनैतिक उद्देश्य में दोनों पक्षों की आपसी सहमति से लिया जा सकता है।

अक्टूबर-नवंबर, 1946 के नोआखाली दंगे के पहले तक वहां हिंदू और मुसलमान दोनों ही मुल्क के बंटवारे के पक्ष में नहीं थे। लेकिन मुस्लिम लीग का आंदोलन तो बंटवारे के लिए था ही, हिंदू महासभा की भी यही मंशा थी।

“दंगों के तमाम सूत्र आखिरकार पाकिस्तान-आंदोलन की संस्थागत राजनीति से जुड़े हुए थे। इन दंगों के नतीजे में अधिकतर हिंदू और मुस्लिम पूरी तरह समझ गए कि अब बंटवारे के सिवा कोई रास्ता नहीं।” (सुरंजन दास—कम्युनल रॉयट्स इन बंगाल, 1905-47, दिल्ली, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1991)। इसी पुस्तक में सुरंजन दास ने साफ तौर पर लिखा है कि मुस्लिम लीग

को हिंदू महासभा का मूक समर्थन हासिल था। आचार्य कृपलानी ने जो दंगों की रिपोर्ट प्रस्तुत की थी उसमें भी इस गठजोड़ का हवाला दिया गया था।

आमतौर पर एक-दूसरे की कट्टर विरोधी मानी जाने वाली ताकतें एक-दूसरे के सहारे ही जिंदा हैं। वहाबी विचारधारा वाले दहशतगर्द यह अच्छी तरह जानते हैं कि जिन देशों में मुसलमान बहुसंख्यक नहीं हैं या उनकी तादाद बहुत कम है वहाँ इनका तथाकथित इस्लामी कानून कभी लागू नहीं हो सकता। हिन्दुत्ववादी ताकतें भी इस तथ्य को अच्छी तरह से समझती हैं। अमरीका और यूरोप के तमाम देशों के सामने भी यह बात स्पष्ट है। लिहाजा हम देखते हैं कि शरीया कानून की मांग करने वाले इन संगठनों की दहशतगर्दी का केंद्र आमतौर पर अरब देश, अफ्रीकी मुस्लिम बहुसंख्यक देश और अफ़ग़ानिस्तान, पाकिस्तान और बांग्लादेश जैसे मुल्क बन रहे हैं।

इन देशों में इनको समर्थन और अधिक तब मिलता है जब इनकी गतिविधियां भारत जैसे देशों में भी चलती रहें और यहाँ के बहुसंख्यक यह मानने लगें या मानते रहें कि वे 'इस्लामी दहशतगर्दी' के निशाने पर हैं। इनका यह कदम वैधता प्रदान करता है हिन्दुत्ववादी संगठनों को अपनी गतिविधियां तेज करने में और व्यापक समर्थन हासिल करने में। यही कारण है कि जब वहाबी आतंकवाद ज़रा देर के लिए हिंदुस्तान से नज़रें फेर लेता है तो हिन्दुत्ववादी संगठन उनके नाम पर खुद यह काम अंजाम देने लगते हैं। मालेगांव, मक्का मस्जिद जैसे अनेक उदाहरण हैं जहां इन ताकतों ने यह काम अंजाम दिया है। मज़े की बात यह है कि वहाबी कट्टरपंथियों ने कभी इससे इन्कार भी नहीं किया कि यह दहशतगर्दी का काम उनका था।

समय आ पहुंचा है कि सांप्रदायिकता और दहशतगर्दी के इस गठजोड़ को समझा जाये और दोनों ही ताकतों को शिकस्त दी जाए।

‘जनसत्ता’ (24 सितम्बर, 2013) में प्रकाशित।

सांप्रदायिकता विरोध बनाम सेक्युलर आंदोलन

आमतौर पर सांप्रदायिकता शब्द सुनते ही हमारे जेहन में आग, खून और दंगों की तस्वीरें उभरती हैं। भारत के आम इंसानों के बीच सांप्रदायिकता की अवधारणा भी यही है। समाज का बुद्धिजीवी तबका अपने तौर पर सांप्रदायिकता को अलग-अलग रूपों में परिभाषित करता आया है, और कर रहा है। लेकिन यह समझ और अवधारणा सिर्फ किताबी बातें रहकर एक सीमित दायरे में चर्चा का विषय बनती हैं। आम हिंदुस्तानी के लिए और यहां तक कि जुझारू और ईमानदार सामाजिक कार्यकर्ताओं के लिए भी सांप्रदायिकता मोटे तौर पर दंगे-फसाद, लूट-पाट, आगजनी, क्रल्ल, बलात्कार आदि से ही संबंधित है। इसका एक अर्थ यह भी लगाया जा सकता है कि जब ऐसी स्थिति न हो तो समाज में सांप्रदायिकता नहीं है और यदि है भी तो सक्रिय नहीं है। हममें से बहुत सारे लोग इस बात को बचकाना या उटपटांग समझ भी कह सकते हैं क्योंकि हममें से अधिकतर लोग लिखने-पढ़ने का काम करते हैं और किसी-न-किसी रूप में स्वयं को बुद्धिजीवी भी मानते हैं। आइए इसे एक ताजा उदाहरण के आइने में देखने की कोशिश करें।

2002 में गुजरात में भयावह सांप्रदायिक हिंसा हुई। हिंसा की शुरुआत से लेकर लगभग एक साल तक पूरे देश में सांप्रदायिकता के मुद्दे से सरोकार रखने वाले हर तरह के लोग दिन-रात सांप्रदायिकता विरोधी गतिविधियों में ही लगे रहे। देशभर में अनेक मंच भी बने, उनमें से कुछ सांप्रदायिकता विरोधी होने के नाम पर और कुछ अमन और एकता के नाम पर। फिर धीरे-धीरे आग और खून, हिंसा और बलात्कार की घटनाएं कम होती गईं और उसी रफ्तार से हम कार्यकर्ताओं का जोश भी ठंडा पड़ता गया। और फिर केन्द्र सरकार बदली। लोगों ने जश्न भी मनाए। इसलिए नहीं कि केन्द्र में यूपीए सरकार ने सत्ता संभाली। बल्कि इसलिए कि केन्द्र से एनडीए सरकार हटी। अचानक अधिकतर कार्यकर्ताओं

के सरोकारों की सूची से संभवतः सांप्रदायिकता का बिंदु कट गया और यदि कटा नहीं तो इस सूची में वह शब्द सबसे नीची कतार में पहुंच गया। आजकल इस पर बहस भी कम ही सुनाई पड़ती है। शायद हम मान बैठे हैं कि यह शांति का समय है लेकिन क्या ऐसा नहीं हो सकता कि यह वैसा ही शांति का समय हो जैसा शांति का समय गुजरात की हिंसा के पूर्व था। 27 फरवरी 2002 के लगभग छह महीने पूर्व तक किसी को ऐसा आभास भी नहीं था कि गुजरात जैसी अभूतपूर्व घटना घट सकती है। लेकिन छह महीने बाद गुजरात में दंगा नहीं जनसंहार हुआ। हम कह सकते हैं कि गुजरात में दंगों का अपना इतिहास है। सूरत, अहमदाबाद और बड़ौदा जैसे शहरों में अकसर सांप्रदायिक हिंसा भड़कती रही है। लेकिन दंगों का इतिहास देश के अन्य कोनों में भी है। मुंबई हो या भागलपुर, भिवंडी हो या मुरादाबाद, कानपुर हो या मुज़फ्फरपुर, मेरठ शहर हो या मलियाना, अनगिनत दंगे इन शहरों के इतिहास में दर्ज हैं। समूचा उत्तर प्रदेश और बिहार हमेशा से ही दंगों की रणभूमि रहा है। कहीं ऐसा न हो कि इन इलाकों में जो शांति हमें दिख रही है वो उसी शांति से मिलती-जुलती हो, जो 2001 तक हमें गुजरात में देखने को मिल रही थी।

अमन के हम रखवाले

दरअसल हमारी मानसिकता सांप्रदायिकता विरोध की बन चुकी है। हम गाते जरूर हैं 'अमन के हम रखवाले सब एक हैं' लेकिन शायद अमन की रखवाली के लिए हम निरंतर सक्रिय रहकर समय नहीं बर्बाद करना चाहते। इसलिए हर बार होने वाली सांप्रदायिक हिंसा के विरोध में काम करने के बाद खामोशी से अपने दूसरे कामों में लग जाते हैं और अचानक तब सक्रिय होते हैं जब एक और सांप्रदायिक हिंसा का दौर शुरू होता है।

हिंसा के बाद सौहार्द का संवाद

आम तौर पर हिंसा के बाद सांप्रदायिक सौहार्द कायम करने की जो प्रक्रिया चलती है उसकी कार्यनीति कुछ इस प्रकार होती है -

- शांति जुलूस निकालना।
- हिंसा के विरुद्ध धरने आयोजित करना।
- टकराव में शामिल समुदायों के बीच सौहार्द का संवाद कायम करना।

इन तमाम तरीकों का अपना एक महत्व है लेकिन कभी-कभी यह तरीके नाकाफी भी साबित होते हैं। मान लीजिए कोई बड़ी सांप्रदायिक हिंसा की घटना घटी। टकराव में शामिल तमाम पक्षों की मनःस्थिति उस समय क्या

होगी, इसका अंदाज़ा लगाना कोई मुश्किल काम नहीं। एक-दूसरे की मंशा पर शक और अविश्वास की भावना, गुस्सा, शिकायत, आक्रामकता! क्या ऐसी मनःस्थिति में सौहार्द के लिए संवाद सही नतीजे दे सकेगा। संभव है स्थिति की नज़ाकत देखते हुए तमाम पक्ष हिंसा रोकने पर राज़ी हो जायें लेकिन क्या वे भावनाएं भी जाती रहेंगे जो उनके मन के अंदर घर कर चुकी हैं? दरअसल अनुभव बताते हैं कि ऐसे समय में एक-दूसरे की बात सुनने के लिए न कान खुले होते हैं और न दिमाग़ राज़ी होता है। कभी-कभी तो संवाद के दौरान भावनाएं और भी भड़क जाती हैं। जिस समय एक-दूसरे की बात सुनने के लिए कान खुले होते हैं और दिमाग़ तैयार रहता है, उसे हम शांति का दौर मानकर कुछ करने का प्रयास ही नहीं करते।

आइए ज़रा एक नज़र पिछले एक साल में घटी सांप्रदायिक घटनाओं पर डालें। ध्यान रहे कि ये घटनाएं पिछले केवल एक वर्ष की हैं, जबकि यूपीए सरकार आते ही हमने जो शांति का समय घोषित किया उसे लगभग तीन वर्ष का समय बीत चुका है।

मऊ, उत्तर प्रदेश	जनवरी 2006
भोजशाला, मध्य प्रदेश	जनवरी-फरवरी 2006
इंदौर, मध्य प्रदेश	जनवरी 2006
जयपुर, राजस्थान	जनवरी 2006
फैज़ाबाद, उत्तर प्रदेश	जनवरी 2006
मेरठ, उत्तर प्रदेश	फरवरी 2006
अलापुज़ा, केरल	फरवरी 2006
लेह, जम्मू-कश्मीर	फरवरी 2006
गोवा, गोवा	मार्च 2006
लखनऊ, उत्तर प्रदेश	मार्च 2006
मुजफ्फरपुर, उत्तर प्रदेश	मार्च 2006
अलीगढ़, उत्तर प्रदेश	अप्रैल 2006
बैंगलोर, कर्नाटक	अप्रैल 2006
मराड, केरल	अप्रैल 2006
खंडवा, मध्य प्रदेश	अप्रैल 2006
पाली, राजस्थान	अप्रैल 2006
अहमदपुर, मध्य प्रदेश	मई 2006
बड़ौदा, गुजरात	मई 2006

प्रतापगढ़, उत्तर प्रदेश

7 जून 2006

बहरामपुर, ओड़िशा

जुलाई 2006

भिवंडी, महाराष्ट्र

जुलाई 2006

मंगलूर, कर्नाटक

अक्टूबर 2006

गोरखपुर-मऊ, उत्तर प्रदेश

जनवरी-फरवरी 2007

अभी जबकि योगी आदित्यनाथ के इशारे पर समूचा पूर्वी उत्तर प्रदेश सांप्रदायिक टकराव के दौर से गुज़र रहा है फिर भी शांतिकर्मियों में शांति ही छाई हुई है। क्या फिर किसी गुजरात का इंतज़ार है जिसके बाद ये खामोशी टूटेगी।

‘उनका एजेण्डा’ हमारी प्रतिक्रिया

सांप्रदायिकता से लड़ने के लिए हमें अपने तरीकों में सोचे-समझे बदलाव लाने होंगे। हम सभी जानते हैं कि सांप्रदायिकता विरोध के बजाय हमें एक सेक्युलर आंदोलन की ज़रूरत है। यह कब तक चलता रह सकता है कि सांप्रदायिक शक्तियां अपना काम कर चुकने के बाद हमें अपने कर्तव्य निर्वाह पर मजबूर करें। अगर हम इन शक्तियों को कामयाब नहीं होने देना चाहते तो हमें उस समय का इस्तेमाल करना होगा जिसे हम शांति का समय समझ बैठते हैं। जिस तरह पिछले कुछ दशकों में नारीवादी आंदोलन और दलित आंदोलन ने अपने लिए स्वयं एजेंडा तैयार किया है उसी तरह हमें एक सेक्युलर आंदोलन खड़ा करना होगा और उसके लिए अपना एजेंडा खुद ही तैयार करना होगा। निश्चित रूप से नारीवादी आंदोलन और दलित आंदोलन ने पिछले कुछ दशकों में सफलता हासिल की है। ये सफलता इसीलिए हासिल हो पायी है कि इन आंदोलनों ने महिला उत्पीड़न और जातिगत उत्पीड़न के विरोध में अपनी आवाज़ तो उठाई ही है, साथ ही सतत रूप से और निरंतर यह आंदोलन अपना एजेंडा लेकर समाज के सामने पुरजोर आवाज़ें भी उठाते रहे हैं। अब ये आंदोलन महिला उत्पीड़न विरोधी आंदोलन अथवा जातिगत उत्पीड़न विरोधी आंदोलन न रह कर नारीवादी आंदोलन और दलित आंदोलन बन चुके हैं। इन आंदोलनों की आवाज़ों पर समाज का ध्यान आकर्षित होता है। सांप्रदायिकता के संदर्भ में भी आवश्यकता कुछ ऐसी ही है। नाम हम इसे कुछ भी दें लेकिन काम का एजेंडा और रास्ता चुनने में हमें अन्य आंदोलनों की राह ही चलना पड़ेगा।

हमारी भूमिका

सांप्रदायिकता की जड़ें मजबूत करने में सांप्रदायिक शक्तियां जिन हथियारों का इस्तेमाल करती हैं उन्हें मेरी बी. एण्डरसन ने ‘आघात न पहुंचे’ नामक पुस्तक में अन्य टकरावों के संदर्भ में इस प्रकार श्रेणीबद्ध किया है—

- व्यवस्थाएं एवं संस्थान
- व्यवहार एवं रवैये
- भिन्न मूल्य एवं हित
- भिन्न अनुभव
- प्रतीक एवं पर्व

उसी पुस्तक में उन्होंने यह भी माना है कि जिस समाज में लोगों में नफरत फैलाने में उपरोक्त पांच पक्ष काम करते हैं वहीं उसी समाज में अमन की स्थानीय क्षमताएं भी पहले से मौजूद होती हैं जो इस प्रकार हैं—

- व्यवस्थाएं एवं संस्थान
- व्यवहार एवं रवैये
- साझे हित एवं मूल्य
- साझे अनुभव
- प्रतीक और पर्व

मेरी बी. एण्डरसन के अनुसार तमाम टकरावों के संदर्भ में हमारी भूमिका बनती है उपरोक्त जोड़ने वाले तत्वों अथवा अमन की स्थानीय क्षमता को निरंतर मजबूत बनाते रहना और समाज में तनाव पैदा करने वाले तमाम पक्षों को उसी मजबूती बनाने के दौरान कमजोर करना। भारतीय समाज में भी ऐसी व्यवस्थाएं और संस्थान, व्यवहार और रवैये, साझे मूल्य एवं हित, साझे अनुभव और प्रतीक एवं पर्व हमेशा से मौजूद रहे हैं जो समाज को जोड़े रखने का काम करते रहे हैं। यही हमारी साझी विरासत भी है। हमारी भूमिका बनती है कि इस साझी विरासत को चिन्हित करें और इन्हें मजबूत बनाने का काम करें। यदि हम एक सशक्त सेक्युलर आंदोलन की नींव रखना चाहते हैं तो इससे पहले कि व्यवस्थाएं एवं संस्थान, व्यवहार एवं रवैये, भिन्न मूल्य और हित, भिन्न अनुभव और विभेद पहुंचाने वाले प्रतीक एवं पर्व का इस्तेमाल करते हुए सांप्रदायिक शक्तियां हमारे बीच का सारा साझापन समाप्त करते हुए हमारी साझी विरासत को भी समाप्त कर दें, हमें खुद पहल करनी होगी और अपनी साझी विरासत को अपने सेक्युलर आंदोलन का हथियार बनाकर नारीवादी और दलित आंदोलन की तरह ही शांति की स्थापना के लिए एक नये दौर में प्रवेश करना होगा।

‘समरथ’ में प्रकाशित।

सांप्रदायिकता और स्वयं सेवी संगठनों की भूमिका

स्वयंसेवी संगठन आमतौर पर विकास कार्य में लगे गैर-राजनीतिक संगठन माने जाते हैं। सरकार उनसे यही अपेक्षा भी रखती है कि वे राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा न लें। यह और बात है कि कौन-सी गतिविधि राजनैतिक है और कौन-सी अराजनीतिक, इसकी व्याख्या नहीं की जाती। इसमें फायदा भी है। जो सरकार की नीतियों के पक्ष में काम करे उसका कोई भी काम राजनैतिक नहीं माना जाएगा। सरकार की नीतियों के विरुद्ध कोई क्रदम फ़ौरन राजनीतिक गतिविधि के दायरे में आ जाएगा। सरकार चाहे, तो संस्था का पंजीकरण भी रद्द कर दे या फिर फंडिंग पर रोक लगा दे। सांप्रदायिकता का सवाल राजनैतिक सवाल है या नहीं, इस पर बहस की कोई गुंजाइश ही नहीं बची है। वर्तमान उप-प्रधानमंत्री की कुख्यात रथयात्रा से लेकर गुजरात जनसंहार तक की प्रक्रिया के बाद अब शायद ही कोई माने की सांप्रदायिकता राजनैतिक मुद्दा नहीं है, फिर भी पिछले कुछ वर्षों में स्वयंसेवी संगठनों ने सांप्रदायिकता का प्रश्न बड़ी शिद्दत से उठाया है।

इस प्रक्रिया में इन संगठनों और संस्थानों ने विभिन्न नागरिक मंचों के साथ मिलकर बड़ी अहम भूमिका निभाई है। इस भूमिका का स्वरूप और आकार-प्रकार क्या रहा है, इस पर चर्चा ज़रूरी है, लेकिन उससे भी ज्यादा ज़रूरी यह है कि हम इस तथ्य की जांच-पड़ताल करें कि पिछले कुछ वर्षों में ऐसा क्या हुआ कि सांप्रदायिकता के संदर्भ में स्वयंसेवी संगठनों एवं नागरिक पहलों की भूमिका इस हद तक महत्वपूर्ण हो गई कि हम उस पर गंभीर चर्चा करें, उसका लेखा-जोखा रखें। अतीत में भी जब सांप्रदायिक तनाव या टकराव की स्थिति उभरी, विभिन्न नागरिक मंच खड़े हुए, स्वयंसेवी संगठन आगे आए और जो कुछ भी संभव हो सका, वह किया, लेकिन पिछले कुछ वर्षों में

स्थितियों में भारी बदलाव आया है। सांप्रदायिकता के सवाल पर स्वयंसेवी संगठनों और नागरिक मंचों की भूमिका इतनी बढ़ चुकी है कि कुछ वर्ष पूर्व इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। ऐसे हालात क्यों बने, इसके लिए बहुत लंबे-चौड़े विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। गोधरा और गुजरात के जनसंहार के दौरान किसने क्या भूमिका निभाई, अगर इस पर एक सरसरी नज़र डालें, तो स्थिति स्पष्ट हो सकती है। आइये, सबसे पहले यह देखें कि सांप्रदायिकता जैसे विशुद्ध राजनैतिक मुद्दे को लेकर राजनैतिक दलों की क्या भूमिका रही है ?

27 फरवरी को साबरमती एक्सप्रेस के एस-6 में आग लगा कर कई यात्रियों को जिंदा जला दिया गया और उसके बाद पूरे गुजरात में जो जनसंहार हुआ, उसकी मिसाल कम-से-कम भारत में ढूंढना तो मुश्किल है। राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के घटकों से किसी सकारात्मक प्रतिक्रिया की अपेक्षा रखना तो बेकार ही था। कम-से-कम उन राजनैतिक दलों से अपेक्षा जरूर थी, जो सेक्यूलरिज़्म का परचम लेकर वोट की फसल काटते हैं। मुख्य विपक्षी दल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने गुजरात जनसंहार पर मुंह खोलने में हफ़्ता बिता दिया। शायद उसे बहुसंख्यक वोटों की चिंता सताने लगी। समाजवादी पार्टी, जो कि उत्तर प्रदेश में जिंदा इसी बल पर है कि वह संघ-गिरोह के खिलाफ सांप्रदायिकता विरोध का नारा बुलंद करके अपने आपको उत्तर प्रदेश की एकमात्र अल्पसंख्यक हितैषी पार्टी घोषित करती रही है और बड़ी हद तक इसका फायदा भी उठाती रही है। मायावती ने तो बड़ी सोची-समझी चुप्पी साध रखी थी, जो कि भाजपा के साथ मिल कर मुख्यमंत्री बनने के साथ उस समय खुली, जब उन्होंने बड़ी बेबाकी से यह वक्तव्य दिया कि जिन लोगों ने गोधरा कांड किया, वही पूरे गुजरात में जनसंहार के लिए जिम्मेदार हैं। मायावती के भारतीय जनता पार्टी के साथ आते ही अचानक रामविलास पासवान सेक्यूलर हो गए। अभी तक उन्हें गुजरात में कुछ ऐसा नज़र नहीं आया था, जिस पर वे दो शब्द बोलते, लेकिन मायावती के संघ-गिरोह की गोद में बैठने के साथ ही वे सीधे गुजरात पहुंच गए। बचे वामपंथी दल, जिनसे तमाम सेक्यूलर ताक़तों ने हमेशा उम्मीदें लगाई हैं। ये उम्मीदें बेबुनियाद नहीं रहीं। अतीत में हमने देखा है कि किसी ने सांप्रदायिकता के मुद्दे को गंभीरता से लिया है, तो वे वामपंथी राजनैतिक दल ही रहे हैं। जिस समय गुजरात जल रहा था, ठीक उसी समय भारत की दो मुख्य कम्युनिस्ट पार्टियां, भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी) अपने-अपने राष्ट्रीय सम्मेलन में व्यस्त थीं। निश्चित रूप से इन दोनों पार्टियों ने

गुजरात को लेकर कुछ प्रस्ताव अवश्य पारित किये होंगे, लेकिन दोनों पार्टियों के नेतृत्व ने यह उचित नहीं समझा कि अपने कुछ साथियों को गुजरात रवाना करें या फिर दिल्ली भेज कर किसी व्यापक अभियान की तैयारी में लगाएं। बात केवल इतनी ही होती, तो शायद स्थिति इतनी कष्टदायक न होती। पार्टी कांग्रेस समाप्त होने के बाद भी इन पार्टियों ने कोई ऐसी पहल नहीं की, जिससे कि आम जनता में विश्वास पनप पाता कि कम-से-कम वामपंथी दल गुजरात को लेकर चुप बैठने वाले नहीं हैं। दिल्ली में एक रैली अवश्य हुई, जिसमें वामपंथी दलों सहित अन्य कई पार्टियां भी शामिल हुईं। इस रैली में विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों और नागरिक मंचों ने भी शिरकत की, लेकिन इस रैली को इन पार्टियों ने कितनी गंभीरता से लिया था, इसका अंदाज़ा इस बात से लगाया जा सकता है कि रैली में बमुश्किल तीन हजार लोग इकट्ठा हो सके। किसी दिलजले ने उस समय ठीक ही प्रतिक्रिया दी कि इससे काफ़ी ज़्यादा भीड़ तो गुजरात में विश्व हिंदू परिषद और बजरंग दल के लोग जय श्रीराम का नारा देकर इकट्ठा कर लेते हैं। अब इसे वामपंथी दलों की उदासीनता कहें या निठल्लापन, या फिर वैचारिक दिवालियापन, यह आप ही तय कर लीजिए।

इस पूरे संदर्भ में सांप्रदायिकता के मुद्दे से गहरा सरोकार रखने वाले आम नागरिक क्या करें, कहाँ आस लगाएं? जहाँ भी थोड़ी उम्मीद की किरण नज़र आई, वहीं जा खड़े हुए, परिणाम स्वरूप दिल्ली में विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों और आम नागरिकों की पहल से एक स्वतःस्फूर्त मंच उभरा, जिसे नाम मिला 'अमन एकता मंच'। ऐसी पहलें गुजरात के लगभग हर शहर में हुईं और स्वयंसेवी संगठनों और आम नागरिकों ने मिल कर गुजरात में जो सद्भावना क्रायम करने का और राहत का कार्य शुरू किया, वह आज भी जारी है। अजीब विडंबना है कि इस पूरी प्रक्रिया में अगर राजनैतिक दलों की कोई भूमिका है, तो वह नगण्य है। इसी क्रम में इस तथ्य का उल्लेख करना आवश्यक है कि मार्च के पहले और दूसरे सप्ताह में दिल्ली में जो धरने, प्रदर्शन 'अमन एकता मंच' जैसे मंचों ने आयोजित किये, उनमें राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठबंधन के घटकों को छोड़कर तमाम राजनैतिक दलों से शामिल होने का अनुरोध किया गया, लेकिन किसी भी राजनैतिक दल ने यह उचित न समझा कि इस प्रक्रिया में शिरकत करे। एक वामपंथी नेता ने तो दो टूक जवाब दिया कि पहल क्या उनकी पार्टी से पूछ कर की गई थी, जो अब मदद की अपेक्षा रखते हैं। उन्हें यह समझाने का प्रयास किया गया कि वे अपनी पार्टी कांग्रेस में व्यस्त थे, इसलिए यह पहल उनसे हरी झंडी प्राप्त किये बग़ैर की गई, लेकिन उन्होंने साफ़ कहा कि पार्टी स्वयं अपना कार्यक्रम तैयार करेगी।

अफ़सोस कि ऐसा हो न सका।

इस दौरान पूरे तीन महीने तक 'अमन एकता मंच' के कार्यकर्ता दिल्ली शहर के कोने-कोने में छोटे-मोटे कार्यक्रम आयोजित करते रहे। इस प्रक्रिया में कई बार संघ-गिरोह के लोगों से वे पिटते-पिटते भी बचे। यह बात और है कि ऐसे कार्यक्रमों के लिए प्रेस कवरेज मिलना लगभग नामुमकिन होता है, लेकिन स्वयंसेवी संगठनों ने जो सबसे अहम भूमिका निभाई, वह दो स्तरों पर थी। एक तो राहत सामग्री इकट्ठा करके राहत शिविरों में पहुंचाना और दूसरा हर हफ्ते जत्थे भेज कर राहत शिविरों में काम करना, जो कि संभवतः सबसे महत्वपूर्ण काम था। बच्चों के साथ खेलना, उनका मन बहलाना, उन्हें पढ़ाना, बलात्कार की शिकार औरतों को दिलासा देना, उनका आत्मविश्वास बढ़ाना, अपना सब कुछ लुटा बैठे लोगों को ढांढस बंधाना कोई आसान काम न था, लेकिन पूरे सात महीने यह काम बड़ी मुस्तैदी से किया गया। इसमें देश-भर के स्वयंसेवी संगठनों ने बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुजरात में सक्रिय स्वयंसेवी संगठनों और नागरिक मंचों ने तो दिन-रात एक करके दंगा पीड़ितों के बीच कार्य किया।

गुजरात की स्थिति को देखते हुए ऐसी आशंका थी कि देश के अन्य प्रांतों में भी दंगे भड़क सकते हैं। ऐसी परिस्थिति में अपने-अपने प्रांतों के स्वयंसेवी संगठनों ने शांति कमेटियां बना कर दंगे रोकने का सफल प्रयास किया।

इस बिंदु पर पहुंच कर जो प्रश्न सबसे अहम बन जाता है, वह यह है कि जो भूमिका राजनैतिक दलों को निभानी चाहिए थी, उसकी जिम्मेदारी स्वयंसेवी संगठनों और नागरिक मंचों पर क्यों आन पड़ी? इस प्रश्न का उत्तर दो स्तरों पर खोजा जा सकता है, पहला स्तर है वोट की राजनीति का और दूसरा वैचारिक दिवालियापन का। पहला उत्तर काफी स्पष्ट और सपाट है। कोई भी राजनैतिक दल लगभग अस्सी प्रतिशत वोटों को क्यों नाराज करे? पिछले डेढ़ दशकों की प्रतिक्रियाएं साफ़ बता रही हैं कि हिंदुत्व और राष्ट्रवाद का नारा सत्ता पाने का एक बहुत बड़ा साधन बन चुका है। यह बात शायद तमाम राजनैतिक संगठन समझने लगे हैं। अचरज नहीं होना चाहिए कि वर्षों से जिस बाबरी मस्जिद-राम जन्मभूमि का विवाद शांत पड़ा हुआ था, उसे राजीव गांधी ने ताला खुलवा कर नई ज़िंदगी दे दी। ताला खुलवाया राजीव गांधी ने, लेकिन मुद्दे को हथिया लिया संघ-गिरोह ने और मुद्दा हथियाने के साथ उसके परिणाम भी मिलने लगे। हिंदुत्व का एजेंडा लेकर संघ-गिरोह ने जो ज़मीन तैयार की, उसी ज़मीन ने भारतीय जनता पार्टी के हाथों में केंद्र की सत्ता सौंपी। राष्ट्रवाद, जो कि आज के संदर्भ में हिंदुत्व का पर्याय बन चुका है, वह भी सत्ता पाने और उसमें बने रहने का बड़ा

प्रभावी ज़रिया बन गया है। पोखरण में परमाणु विस्फोट से लेकर कारगिल युद्ध और हाल ही तक सीमा पर बड़े पैमाने पर सैनिक जमावड़े ने सत्तापक्ष को बड़ी मजबूती प्रदान की है। इसलिए हर राजनैतिक दल मूक रह कर परोक्ष रूप से हिंदुत्व का समर्थक बन जाता है और बड़े मुखर रूप में राष्ट्रवाद का हिरावल दस्ता। वामपंथी दलों को इस श्रेणी में रखना निश्चित रूप से उनके साथ ज्यादाती होगी, लेकिन जिस दूसरे स्तर की बात पहले की गई है, उस श्रेणी में अवश्य वामपंथी दलों को रखा जा सकता है—यह श्रेणी है वैचारिक दिवालियापन की।

स्वयंसेवी संगठनों के नाम पर दुकान खोल कर विश्व बैंक, यूएस एड और फोर्ड फाउंडेशन जैसी साम्राज्यवाद की समर्थक संस्थाओं से मोटी-मोटी रकम लेकर तथाकथित विकास का कार्य करने वाली संस्थाओं से अलग स्वयंसेवी संगठनों की एक ऐसी दुनिया भी है, जो निरंतर वैचारिक मंथन के दौर से गुजर रही है। इस वैचारिक मंथन की प्रक्रिया में इन स्वयंसेवी संगठनों ने सांप्रदायिकता के साथ भूमंडलीकरण (जिसे साम्राज्यवाद का नया अवतार कहना ज्यादा उचित होगा), परमाणवीकरण, सैन्यीकरण, आतंकवाद और पितृसत्ता का रिश्ता जोड़ने का प्रयास किया है। इन संगठनों के बीच यह मान्यता बनी है कि भूमंडलीकरण, परमाणवीकरण, सैन्यीकरण, आतंकवाद, पितृसत्ता और सांप्रदायिकता एक-दूसरे के पूरक हैं। भारत और पाकिस्तान जैसे देशों के संदर्भ में तो इस तथ्य में कोई संदेह नहीं रह जाता है। मामला चाहे परमाणु विस्फोटों का हो, पृथ्वी और गौरी नाम की मिसाइलों का हो, सीमा पर सैनिक जमावड़े का हो या फिर सीमा पर आतंकवाद का हो, सांप्रदायिक तनाव और टकराव में ही उसकी परिणति होती है। 11 सितंबर को विश्व व्यापार केंद्र पर हमले के बाद की प्रक्रिया पर नज़र डालने से स्थिति और भी स्पष्ट हो सकती है। हमले के तुरंत बाद राष्ट्रपति बुश का वक्तव्य की आतंकवाद पर हमला दो सभ्यताओं के बीच की लड़ाई है। किन दो सभ्यताओं की बात थी, यह आईने की तरह साफ़ है। इसके बाद जो प्रक्रियाएं चलीं, उनकी कड़ियां आपस में अपने-आप मिलती जाती हैं। जम्मू-कश्मीर विधानसभा पर हमला। भारत की संसद पर हमला। भारत-पाक सीमा पर सैनिकों का इतना जमावड़ा तो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद का सबसे बड़ा जमावड़ा है। विश्व हिंदू परिषद द्वारा राम जन्मभूमि मंदिर के निर्माण का काम शुरू करने की घोषणा। गोधरा कांड। गुजरात जनसंहार। अपना सब कुछ गंवा बैठी असहाय महिलाओं का बजरंगी शूरवीरों द्वारा सामूहिक बलात्कार। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का बंगलौर प्रस्ताव। गोवा में प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी का वक्तव्य कि मुसलमान जहां कहीं भी बड़ी संख्या में होते हैं, कुछ-न-कुछ गड़बड़ियां फैलाते रहते हैं।

सीमा पर युद्ध जैसी स्थिति। मोदी द्वारा इस्तीफ़ा और गुजरात असेंबली का भंग होना। अक्षरधाम मंदिर पर हमला। जम्मू में रघुनाथ मंदिर पर हमला। गुजरात विधानसभा का चुनाव और इस पूरे प्रकरण में अरुण शौरी द्वारा टॉप गेयर में विनिवेश की प्रक्रिया चलाना और बहुराष्ट्रीय कंपनियों की झोली भरकर भूमंडलीकरण के हाथ मजबूत करना। इस पूरी प्रक्रिया को टुकड़ों में जोड़कर नहीं देखा जा सकता। दरअसल यह पूरी प्रक्रिया एक ही सिलसिले की कड़ियां हैं। यह चौतरफ़ा हमला है। जिसमें एक मोर्चे पर लड़ने से काम चलने वाला नहीं है। स्थितियों को समग्रता में देख कर ही रणनीति बनाई जानी चाहिए। पिछले कुछ वर्षों में स्वयंसेवी संगठनों ने बड़ी गंभीरता से इन प्रक्रियाओं को विश्लेषित करने का प्रयास किया है। राजनैतिक पार्टियों ने स्थिति का विश्लेषण तो दूर, प्रक्रियाएं जानने का ही प्रयास नहीं किया। आज के संदर्भ में इन राजनैतिक पार्टियों से ऐसी उम्मीद भी करना मूर्खता होगी। इनमें से अधिकतर पार्टियां भूमंडलीकरण, परमाणवीकरण, पितृसत्ता और सैन्यीकरण की मुखर समर्थक हैं। पोखरण विस्फोट के बाद जहां देश-भर में स्वयंसेवी संगठनों और नागरिक मंचों ने अपनी सीमा और ताकत के अनुसार विरोध और रोष प्रकट किया था, वहीं दूसरी ओर अधिकतर राजनैतिक दलों का सीना गर्व से फूल उठा था। कुछ नेताओं ने तो यहां तक दावा कर दिया था कि विस्फोट तो हमने उसी समय कर लिया था, जब हम सत्ता में थे। सैन्यीकरण की प्रक्रिया में तमाम राजनैतिक दलों की राष्ट्रभक्ति उफान मारने लगती है। हर किसी को लगता है कि सेना और हथियारों पर जितना कुछ खर्च हो रहा है, वह भी कम है। यह सोचने की भी ज़रूरत नहीं कि हथियार कौन बेच रहा है और इससे किसकी झोली भर रही है। साम्राज्यवादी ताकतों को और चाहिए भी क्या? आतंकवाद की समस्या जितना ज़ोर पकड़े, उतना ही इन जंगबाज़ ताकतों को फायदा पहुंचेगा। हैरत तो इस बात की है कि अंतर्राष्ट्रवाद में अटूट विश्वास रखने वाली पार्टियां भी सीमाओं की सुरक्षा के नाम पर राष्ट्रवादी बन जाती हैं। सैन्यीकरण और आतंकवाद में रिश्ता तलाश करना इन्होंने कभी सोचा ही नहीं। पितृसत्ता और सांप्रदायिकता के रिश्ते की बात आज तक शायद ही किसी राजनैतिक पार्टी ने उठाई हो।

इस पूरे परिदृश्य में समाज के किसी न किसी पक्ष को तो उस ज़िम्मेदारी का निर्वाह करना ही होगा, जिससे वोट की राजनीति करने वाले और वैचारिक दिवालियापन से ग्रस्त राजनैतिक दल मुंह मोड़ते रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में स्वयंसेवी संगठनों ने अपनी इस ज़िम्मेदारी को महसूस किया है और बड़ी संख्या में स्वयंसेवी संगठन पूरी प्रक्रिया को समग्रता में देखते हुए सांप्रदायिकता का मुद्दा

उठाने पर मजबूर हुए हैं। हालांकि ऐसा करने में उन्हें सरकारी आतंक भी काफी झेलना पड़ा। सैन्यीकरण, परमाणवीकरण और शांति के मुद्दे पर कार्यरत कई स्वयंसेवी संगठनों को सरकार की खुफिया एजेंसियों की जांच-पड़ताल भी झेलनी पड़ी। पोखरण विस्फोट, कारगिल युद्ध और गुजरात जनसंहार के बाद देश-भर में खुफिया एजेंसियों ने कई स्वयंसेवी संगठनों के दफ्तरों में घुस कर सामग्री की जांच-पड़ताल की और उन्हें अपनी सीमा में रहने की धमकी दी है। स्थिति यहां तक पहुंच चुकी है कि सरकारी अनुदान लेकर संगठन चलाने वाली ईमानदार एजेंसियां अपना काम बंद करने की स्थिति में पहुंच गई हैं। कुछ मंत्रालयों में मौजूद हमदर्द अफसरों ने दबी ज़बान में यह भी बताया कि यदि सरकारी अनुदान लेना है, तो अपने प्रस्तावों में शांति शब्द का प्रयोग न करें। संभवतः शांति का मुद्दा सरकार के लिए सबसे खतरनाक मुद्दा बन चुका है। दोनों देशों में परमाणु विस्फोटों के बाद भारत-पाक के शांति कार्यकर्ताओं ने पहल करके दक्षिण एशिया शांति आंदोलन की जो शुरुआत की, उससे सरकार को बड़ी तकलीफ़ पहुंची। लिहाजा शांति की बात करना सरकार के विरुद्ध युद्ध का प्रतीक बन गया है। इसलिए ऐसे तमाम स्वयंसेवी संगठनों ने ऐसे मंच तलाश करने शुरू किये हैं, जिससे वे सरकारी तंत्र की गिरफ्त में आए बगैर अपना काम कर सकें। विभिन्न स्वयंसेवी संगठनों और नागरिक मंचों ने गुजरात जनसंहार के बाद काफी सोच-विचार कर अपने आंदोलन को सांप्रदायिकता विरोधी आंदोलन नाम न देकर शांति आंदोलन नाम देने का फैसला किया और कहीं अमन समुदाय, तो कहीं अमन एकता मंच जैसे नाम देकर काम आगे बढ़ाया है। इस सोच के पीछे मान्यता यह रही है कि सांप्रदायिकता विरोध का नाम सुनते ही समाज का एक तबक़ा इसे अपने समुदाय का विरोध मानने लगता है और वह हमारे साथ जुड़ नहीं पाता है। इसके अलावा जहां एक ओर सांप्रदायिक ताक़तों ने लगातार अपनी जड़ें मजबूत की हैं, सेक्युलर ताक़तों ने कोई सकारात्मक आंदोलन नहीं चलाया, जो लंबे समय तक सांप्रदायिक ताक़तों को चुनौती दे सके। सांप्रदायिकता विरोधी आंदोलन अपनी प्रकृति से ही प्रतिक्रियात्मक रहे हैं। नतीजा यह हुआ कि जब कोई विस्फोटक स्थिति सामने आई, तो विरोध शुरू हुआ और आग जरा ठंडी पड़ी कि हम भी ठंडे पड़ गए। ऐसे संदर्भ में एक ऐसे आंदोलन की आवश्यकता नज़र आई, जो अपनी प्रकृति से सकारात्मक हो और एक लंबे समय तक आंदोलन के रूप में चल कर सांप्रदायिक ताक़तों के बीच बड़ी चुनौती खड़ी कर सके। शांति आंदोलन में यह भी संभावना है कि आज स्थितियों को जिस समग्रता में देखा जाना चाहिए, उसे ध्यान में रखते हुए शांति आंदोलन, भूमंडलीकरण,

परमाणवीरण, सैन्यीकरण, आतंकवाद और पितृसत्ता के साथ सांप्रदायिकता का रिश्ता जोड़कर आंदोलन को आगे बढ़ाए। इसी के मद्देनजर पिछले तीन वर्षों से कई स्वयंसेवी संगठनों ने मिलकर 3 दिसम्बर को 'भूमंडलीकरण विरोध', 6 दिसम्बर को 'साझी विरासत' का दिन और 10 दिसम्बर को 'मानवाधिकार दिवस' के अवसर पर जिंदगी जीने के अधिकार और उन अधिकारों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों के हमले के विरोध का दिन घोषित किया है।

लेकिन ऐसा नहीं है कि स्वयंसेवी संगठनों की इसी दुनिया में ज़हर घोलने वाले संगठन मौजूद नहीं हैं। दरअसल बड़ी संख्या में ऐसे स्वयंसेवी संगठन मौजूद हैं जो संघ-गिरोह के इशारे पर उन्हीं का एजेंडा लागू करने के लिए निरंतर जूझ रहे हैं। ऐसे संगठनों के पास न धन की कमी है और न कार्यकर्ताओं की। ऐसे कठिन समय में ज़रूरत इस बात की है कि शांति और सद्भाव के लिए कार्यरत स्वयंसेवी संगठन और मुद्दे से सरोकार रखने वाले राजनैतिक दल एक-दूसरे के अनुभवों से सीखें और साझी ताकत के साथ सांप्रदायिक शक्तियों का मुक़ाबला करें। स्वयंसेवी संगठनों को यह अच्छी तरह पता है कि यह लड़ाई एक राजनैतिक लड़ाई है और इन संगठनों के प्रयास केवल पैबंद लगाने का काम कर सकते हैं, परिवर्तन का नहीं। लिहाज़ा जब तक यह लड़ाई समान सोच वाले राजनैतिक संगठनों के साथ नहीं लड़ी जाती, तब तक स्थितियों में भारी बदलाव की उम्मीद कम ही है।

'फासीवादी ताकतें बरकरार' बुकलेट में प्रकाशित।

यह क्रूरता कहां से आती है ?

धार्मिक कट्टरता जब तमाम सीमाएं तोड़ने लगती है तो सबसे पहले महिलाओं को निशाने पर लेती है। कभी उनका पूरा दमन करके, कभी उनको इस्तेमाल करके। जो बातें वेदों में, 'मानस' में कहीं नज़र न आएँ उनको मनगढ़ंत स्मृतियों में और रोज़ पैदा होने वाले उपदेशों में देख लें। ताज्जुब है कि इनमें समानता भी बहुत होती है। मसलन, हिंदू मान्यता में धर्मजनित अंधविश्वास कि मासिक धर्म के दौरान महिलाओं के लिए क्या-क्या वर्जित है, इस्लाम में भी देखा जा सकता है। मगर इसे ज़्यादा तूल देने के बजाय देखना यह है कि किस तरह धार्मिक कट्टरता पागलपन का रूप लेती है। वहाबियत ने ठीक वही काम किया। हमारे देश में जो हो रहा है उसकी झलक खुद-ब-खुद मिल जाएगी।

आठ अप्रैल 1994 को संयुक्त राष्ट्र ने मानवाधिकारों से संबंधित रिपोर्ट पेश की, जिसमें अफ़ग़ान तालिबान ने महिलाओं पर जो बंदिशें लगाई हैं उनकी एक लंबी सूची है। यहां उनमें से कुछ बिंदु पेश किए जा रहे हैं। पुरुष डॉक्टर के पास जाने पर पूरी पाबंदी। सिर से पैर तक बुर्के में ढंके रहना। घर से बाहर काम करने पर पूरी पाबंदी। पुरुष दुकानदारों से सामान न खरीदना। अगर टखने खुले दिख जाएं तो कोड़ों से उनकी पिटाई। उन्हें कोड़े मारना अगर वे तालिबान द्वारा निर्धारित लिबास न पहनें, सार्वजनिक रूप से उनकी पिटाई और गालियां। पति के अलावा किसी अन्य पुरुष से संबंध पर संगसारी करके मार देना। जोर से हंसने पर पाबंदी। रेडियो, टेलीविजन या किसी सार्वजनिक स्थल पर महिलाओं की मौजूदगी पर पाबंदी। साइकिल, मोटर साइकिल और कार चलाने पर पाबंदी। ईद या अन्य त्योहारों पर या मनोरंजन के लिए महिलाओं के इकट्ठा होने पर पाबंदी। तमाम शीशों की खिड़कियों पर पेंट करवाया जाना, जिससे औरतें बाहर न देख सकें। यहां सारे बिंदु देना संभव नहीं, क्योंकि सूची बहुत लंबी है। यानी महिलाओं को सिर्फ और सिर्फ चलती-फिरती लाश में तब्दील कर देना।

यहां दो तथ्यों का उल्लेख आवश्यक है। पहला यह कि इनमें से अधिकतर शरिया कानून महिला उत्थान की अलंबरदार मानी जाने वाली रब्बानी-मसूद सरकार के जमाने में अफ़ग़ानिस्तान में नाफिज किए गए, जिनके कुछ उदाहरण यहां पेश किए जाएंगे। दूसरी अहम बात यह है कि महिलाओं के लिए बने इन तालिबानी कानूनों का आधार सऊदी अरब के वहाबी आस्था के कानून और स्कूलों के पाठ्यक्रम हैं।

रब्बानी-मसूद सरकार के दौरान महिलाओं पर वहाबी-तालिबानी क्रूरता का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि 1978 से मसूद ने सोवियत संघ के खिलाफ़ जंग छेड़ी और सोवियत संघ के विघटन के बाद गुलबुद्दीन हिकमतयार से जंग के दौरान सऊदी अरब ने सय्याफ और इत्तेहाद-ए-इस्लामी को जब वहाबी विचारधारा को फैलाने के लिए समर्थन दिया तो मसूद ने उसका स्वागत किया और फिर सिलसिला चला वहाबियत की स्त्री विरोधी विचारधारा के अफ़ग़ानिस्तान में प्रसार का। संयुक्त राष्ट्र में पेश किए गए दस्तावेज में मसूद की भागीदारी की सनद यह थी कि औरतों पर हो रहे जुल्मों पर पर्दा डाल दिया गया। आठ अप्रैल 1994 को प्रस्तुत इस रिपोर्ट में मसूद सरकार की बड़ी भूमिका थी। 1979 से लेकर अगले पांच वर्ष तक उच्च स्तर तक महिला शिक्षा 90 फीसद हो चुकी थी। बंदिशों के आने के बाद 1992-93 तक महिला शिक्षा घट कर 30 फीसद हो गई, जबकि इसमें भी वे महिलाएं शामिल हैं जिन्हें शिक्षा 1979 के बाद के पांच वर्षों में मिली थी।

पतियों के जुल्म से केवल हेरात में इस दौरान 90 महिलाओं ने आत्महत्या की (संयुक्त राष्ट्र दस्तावेज)। ऊपर से क्रूर मजाक देखिये सीआइए ने मसूद की चे-ग्वेरा से तुलना की। लेकिन देखिए यही जिहादी तालिबान इन्हीं महिलाओं का इस्तेमाल अपने मकसद के लिए कैसे करते हैं! तालिबानी कारी ज़िया रहमान ने, जो कुनार और नूरिस्तान (अफ़ग़ानिस्तान) और बाजौर और मोहम्मद (पाकिस्तान) में महिला आत्मघाती दस्ते का प्रशिक्षण शिविर चलाता है, अब तक कई महिलाओं को आत्मघाती हमले में इस्तेमाल किया है। यहां से फरार दो लड़कियों ने इसकी सूचना पाकिस्तान सरकार को दी, लेकिन हमेशा की तरह पाकिस्तान ने कोई कार्रवाई नहीं की। इसके फौरन बाद 21 जून 2010 को कुनार में महिला आत्मघाती हमला हुआ। कारी ज़िया रहमान ने खुशी का इज़हार करते हुए हमले की तस्दीक की। इसके बाद 24 जून 2010 को बाजौर में अगला महिला आत्मघाती हमला हुआ जिसमें 40 नागरिकों की जान गई। सिर्फ 2010 में पख़ूनख्वा के खैबर सूबे में बमबारी की 49 घटनाएं हुईं, जिनमें बाजौर

(पाकिस्तान) में विश्व खाद्य कार्यक्रम पर हुआ एक महिला आत्मघाती हमला शामिल नहीं है।

वर्ष 2011 से 'बुर्का बमबारी' का दौर शुरू हुआ। इसे तालिबान ने 'मुजाहिदा सिस्टर्स' का नाम दिया। इस नई तर्ज के हमले में बुर्के में अक्सर मर्द भी आकर बमबारी करते रहे लेकिन मुख्यतः आत्मघाती हमलों की जिम्मेदारी औरतों की ही रही। चार जून 2011 को कुनार (अफ़ग़ानिस्तान) में फिर महिला आत्मघाती हमला हुआ, जिसकी जिम्मेदारी लेते हुए तालिबान ने कहा कि 'मुजाहिदा सिस्टर्स' ने यह काम अंजाम दिया। इसी साल अगला हमला डेरा इस्माइल खां में हुआ। महिला आत्मघाती हमलों का नातमाम सिलसिला रुका नहीं। ये वही इस्लाम के ठेकेदार हैं जिनके अनुसार महिलाओं के जोर से हंसने पर पाबंदी होनी चाहिए। रेडियो, टेलीविजन या किसी सार्वजनिक स्थल पर महिलाओं की मौजूदगी पर पाबंदी होनी चाहिए। साइकिल, मोटर साइकिल और कार के चलाने पर पाबंदी होनी चाहिए। तमाम शीशों की खिड़कियों पर पेंट करवाया जाना चाहिए जिससे औरतें बाहर न देख सकें।

आत्मघाती हमलों के समय ये नियम कहां चले जाते हैं? औरतों के प्रति इस दोहरे रवैए को तालिबान की मक्कारी और इनके सरपरस्त वहाबी पैरोकारों के दोमुंहेपन के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। एक तरफ सऊदी अरब की वहाबी सरकार और इनके आतंकी संगठन महिलाओं को गुलाम से बदतर ज़िंदगी देने वाले नियम बनाते हैं, दूसरी तरफ यही औरतें 'मुजाहिदा' कहलाने लगती हैं। महज इस्तेमाल की शय हैं इनकी नज़र में औरतें और ये वहाबी और आतंकी खुद को इस्लाम का सही पैरोकार बताते हैं। क्या इनका कुरान अल-वहाब के आने के बाद 18वीं सदी में नाजिल हुआ? जो कुरान मोहम्मद साहब के वक़्त नाजिल माना जाता है, उसमें तो ऐसा कुछ नज़र नहीं आता। यह है राजनीतिक इस्लाम, जिसका मज़हब और कुरान-हदीस से कोई लेना-देना नहीं।

इनकी हैवानियत का दूसरा रुख देखिए। ज़रा कोई आलिम बताए कि कुरान या किस हदीस में लिखा है कि मासूम बच्चों के गले में बम लगा कर उसे इंसानी और खुद का क़त्ल करने को तैयार करो? लेकिन इनका इस्लाम यही करता है। मासूम गरीब बच्चों को और उनके घरवालों को जन्नत के ख़ाब दिखा कर और कुछ पैसे देकर आत्मघाती हमले के लिए तैयार करना अल-क्रायदा और तालिबान का ऐसा धिनौना काम है जिससे सारी मानवता का सिर शर्म से झुक जाना चाहिए। चार नवंबर 2008 को संयुक्त राष्ट्र ने अपनी रिपोर्ट में न केवल इस बात की तस्दीक की बल्कि इसकी भर्त्सना भी की कि तालिबान और अल-

क्रायदा 10 से 13 साल के बच्चों को आत्मघाती दस्ते में शामिल करके उन्हें प्रशिक्षण दे रहे हैं।

ग्वांतानामो की संयुक्त खुफिया एजेंसी की रिपोर्ट के अनुसार तालिबान का मानना है कि ये बच्चे चूँकि तर्क के आधार पर सोच नहीं सकते इसलिए शहीद बनने के लिए आसानी से तैयार हो सकते हैं। इसके लिए इनके दिमाग में जहर भरा जाता है और इन्हें पूरी तरह से असंवेदनशील बना दिया जाता है। खुद अफ़ग़ानिस्तान की सरकार ने यह माना कि इन बच्चों को मुसलमानों, मुस्लिम औरतों और बच्चों को यातना देने के वीडियो दिखाए जाते हैं जिससे कि इनका खून खौले और ये बदला लेने के लिए आतुर हों।

अफ़ग़ानिस्तान की सरकार ने भी सार्वजनिक रूप से यह स्वीकार किया कि ये बच्चे सात हजार डॉलर से चौदह हजार डॉलर की कीमत पर खरीदे जाते हैं और मां-बाप को कहा जाता है कि सिर्फ पैसा नहीं मिलेगा, आपका बेटा इस्लाम के नाम पर शहीद होकर सीधे जन्नत पहुंचेगा।

अल-क्रायदा और तालिबान के लोग बेशर्मी की किस हद तक जा रहे हैं इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि कुनार और नूरिस्तान इलाके में जब बच्चा पूरी तरह से आत्मघाती कार्रवाई के लिए तैयार हो जाता है तो उसे दूल्हे की तरह सजा कर घोड़े पर बैठा कर पूरे गांव में घुमाया जाता है और गांव के लोग, जिनमें कुछ तालिबान के डर की वजह से या फिर उनके समर्थक होने के कारण, बच्चे के मां-बाप को मुबारकबाद देने आते हैं। इन कम-उम्र बच्चों की संख्या 5000 से 7000 के बीच खुद पाकिस्तान सरकार ने स्वीकार की है।

पाकिस्तान के गृह मंत्रालय (इंटीरियर मिनिस्ट्री) के अनुसार पिछले दो साल में 2488 आतंकवादी घटनाएं घटी हैं जिनमें लगभग 4000 लोग मारे गए हैं। इनमें से अधिकतर आत्मघाती हमले कमसिन बच्चों द्वारा किए गए हैं। तालिबान ने फिदायीन-ए-इस्लाम नाम से पाकिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान की सीमा पर वजीरिस्तान में ऐसे तीन प्रशिक्षण शिविर तैयार किए हुए हैं जिनमें हजारों की तादाद में कम-उम्र बच्चे प्रशिक्षण पा रहे हैं। आतंकवाद के आज तक के इतिहास में इतनी बर्बरता भरी सोच की मिसाल मिलना नामुमकिन है। इस पूरे इलाके में फैली अशिक्षा और अकल्पनीय गरीबी का फायदा उठा कर ये सारे काम अंजाम दिए जाते हैं।

वहाबियत का यह चेहरा किस कोण से इस्लामी चेहरा हो सकता है? गरीब का पेट भरना, गरीबी दूर करना, अशिक्षा दूर करना इन्हें इनका इस्लाम नहीं सिखाता। इनका इस्लाम सिखाता है ऐसी स्थिति का फायदा उठा कर मासूम

इंसानों का खून बहाना। यह नया इस्लाम है। वहाबी इस्लाम। इसकी जड़ में मज़हब नहीं राजनीति है। और जब मज़हब और राजनीति का मेल होता है तो इंसानियत मौत के दरवाजे पर नज़र आती है। वहाबियत और इनके आतंकी संगठन मज़हब के नाम पर राजनीतिक इस्लाम स्थापित कर रहे हैं जिस पर लगाम नहीं लगी तो एक नए फासीवाद का जन्म निश्चित है।

‘जनसत्ता’ (28 अक्टूबर, 2013) में प्रकाशित।

कौन सा इस्लामी आतंकवाद ?

काफ़ी पहले एक मित्र ने मुझे अल्लाह हाफ़िज़ कहा। तो सोचा इस पर लिखूं। बचपन से खुदा हाफ़िज़ सुनते आये थे अचानक कब खुदा गायब हुआ और अल्लाह आ गया हाफ़िज़ में। इलाहाबाद का हूँ जहाँ सिर्फ़ मुस्लिम नहीं हिंदू भी बड़े आराम से खुदा हाफ़िज़ कहते रहे हैं

पृष्ठभूमि

पाकिस्तान में 1978 में ज़ियाउल हक़ सत्ता में आया। उसने पहला काम किया सऊदी अरबिया के साथ सम्बन्ध गहरे करने का। अमरीकी डालर के साथ पेट्रो डालर दरकार थे। आते साथ उसने लायलपुर का नाम फैसलाबाद रखा किंग फैसल के नाम पर। किंग फैसल की मौत 1975 में हुई थी और उसके बाद फ़ौरन बहुत बड़ी रकम आई पकिस्तान। तुरंत बाद 1979 में दो बड़ी घटनाएं हुई। सोवियत फ़ौजों का अफ़ग़ानिस्तान आना और खुमैनी का ईरान में सत्ता संभालना। दोनों ही घटनाएं अमरीका और सऊदी के लिए खतरनाक थीं। ईरान शिया बहुल देश है और खुमैनी शिया लीडर इसलिये सारे कानून शिया थिओलाजी के हिसाब लागू हुए। यहाँ महत्वपूर्ण यह है कि ईरान कि ज़बान फ़ारसी है और खुदा लफ़्ज़ फ़ारसी का है। सऊदी अरबिया की ज़बान अरबी है और अल्लाह लफ़्ज़ अरबी का है। जिया को साबित करना था कि वह घोर ईरान विरोधी है। पाकिस्तान में फटाफट सारे के सारे ऐसे काम हुए जिस से सऊदी और अमरीका खुश हों। पकिस्तान अचानक इस्लाम से सुन्नी इस्लाम कि तरफ बढ़ गया। अहमदिया, बोहरा, कादियानी और ज़रा बाद में शिया समुदायों को इस्लामी दायरे से हटाने कि मुहिम भी शुरू हो गयी। इसके अलावा जो मूर्खतापूर्ण कदम था वह जिया का मीडिया (रेडियो, टीवी, अखबार) को निर्देश कि खुदा कि जगह अल्लाह इस्तेमाल करें। पहली बार पाकिस्तान रेडियो पर 1979 में सुना गया 'अल्लाह हाफ़िज़'। धीरे-धीरे खुदा ने गठरी संभाल ली और अल्लाह को अपनी सीट दे दी।

क्या इस्लामी आतंकवाद जैसी कोई चीज़ है ?

इतिहास से

अप्रैल 1900 में अंग्रेजों ने यूनाइटेड प्रोविंस में फ़ारसी लिपि की जगह नागरी चलाने का आदेश दिया। यहाँ के समृद्ध मुस्लिमों ने इसे अपने कल्चर पर हमला समझा जबकि उर्दू उतनी ही हिंदुओं की भाषा थी जितनी मुसलमानों की। लेकिन एलीट मुस्लिम इसे अपनी बपौती समझता था। उधर 1905 में बंग भंग हुआ। पूर्वी बंगाल मुस्लिम बहुल और पश्चिम बंगाल हिंदू बहुल। अंग्रेज जानता था कि इस से क्या होगा, हुआ वही 1906 में मुस्लिम लीग की ढाका में स्थापना हुई। स्थापना करने वाले कौन थे यह गौरतलब है। या तो वे जो सर कि उपाधि पा चुके थे या नवाब। आम इंसानों को इससे दूर रखा गया। अब शुरू हुई सांप्रदायिकता की खुली राजनीति। इन नवाबों और समृद्ध नोबिलिटी को लगा कि अब हाथ से सत्ता जा रही है। मुस्लिम लीग ने अब बंगाल के साथ-साथ यूनाइटेड प्रोविंस और पंजाब में अपनी जड़ें मज़बूत करनी शुरू की।

1915 में हिंदू महासभा के गठन के बाद दोनों ताकतें एकदम सामने आ गयी और सिलसिला शुरू हुआ हिंसा का।

अब एक अत्यंत महत्वाकांक्षी नेता लियाकत अली खान इसी दौरान 1923, में लीग में शामिल हो गया और मामला सांप्रदायिक रंग लेने लगा।

1941, ने जमात-ए-इस्लामी का गठन किया। यह पहला वहाबी कट्टरपंथ नेता था जिसने बाद में सांप्रदायिकता और हिंदू समेत तमाम ग़ैर मुसलमानों के खिलाफ़ नफरत का बीज बोया। इसी के प्रभाव में मनगढ़ंत इस्लामी कानून बने। आज भी वहाबी कट्टरपंथी इसको सर आँखों पर बिठाते हैं।

सऊदी अरब के साथ सम्बन्ध बनाने में इसकी बड़ी भूमिका रही।

इसी की परंपरा को आगे ले जाने वाला और सेना, आई.एस.आई. समेत पूरे पाकिस्तान को सांप्रदायिक रूप देने वाला ज़ियाउल हक़ था। हिंदुओं के लिये नफरत के बीज यहाँ से मज़बूत हुए पाकिस्तान में। इसी दौरान मदरसों में पाठ्यक्रम बदले जो 'काफ़िरों' के खिलाफ़ थे। यहीं से निकलना शुरू हुए भारत से नफरत करने वाले और हिंदुओं से नफरत करने वाले। लेकिन इनका निशाना अभी भी ग़ैर वहाबी (शिया, बोहरा कादियानी, अहमदिया मुस्लिम) रहे। यह हिंदुओं और इन मुस्लिमों को एक ही नज़र से देखते हैं।

वर्तमान

अब ज़रा दूसरा पहलू। इस्लाम में कुल 72 सेक्ट हैं। इसमें शिया और सुन्नी सबसे बड़े सेक्ट हैं। सुन्नी सेक्ट में तो तरह-तरह के अनुयायी हैं। बहुत

बड़ी तादाद में पारंपरिक सुन्नी और बेहद छोटी तादाद वहाबी सुन्नी की है (कुल लगभग सुन्नी समुदाय का पांच प्रतिशत)। ज़ियाउल हक़ वहाबी था और पूरा सऊदी अरब वहाबी राष्ट्र है। धरती पर एकमात्र। इसने जब सोवियत संघ के विरोध में फ़ौज खड़ी की तो उसमें वहाबी ही रहे। याद रहे कि ग़ैर वहाबी लोग इन संगठनों में न तब जा सकते थे न अब। मतलब पूरी इस्लामी परंपरा के पांच प्रतिशत लोगों में से ही है। अब इन पांच प्रतिशत लोगों में सारे के सारे तो आतंकवादी नहीं हो सकते। दुनिया में वहाबी समुदाय के अलावा केवल एक ही बंदूकधारी संगठन है वह है हिजबुल्लाह जो कि लेबनान में है और सिर्फ़ इजराइल से लड़ता है फिलिस्तीन के लिए ...इसके अलावा कहीं इसने पटाखा तक नहीं फोड़ा।

यहाँ एक बात और महत्वपूर्ण है कि 1979 के पहले आतंकवाद की एक भी घटना कहीं नहीं हुई।

सऊदी अरब खाड़ी का सबसे धनवान और सब से प्रतिक्रियावादी देश है और अमरीका का सब से पुराना मित्र भी। सोवियत संघ के विघटन के बाद सारे रास्ते साफ़ हो गए। अब रहा सऊदी अरब और पाकिस्तान। बिना इनकी मदद के अमरीका इराक और अफ़ग़ानिस्तान में नहीं घुस सकता था। बिना इनकी मदद के अमरीका इजराइल के समर्थन में नहीं खड़ा हो सकता।

क्या कभी कोई ऐसा आतंकवादी नाम सुना है जो दक्षिण एशिया, सऊदी अरब, या उससे आस-पास से बाहर का हो? ओसामा बिन लादेन। यह कमबख्त बिन बादल बिन बरसात कहाँ का नाम है? वही नेता क्यों बना। अब इसके लिए पैसा कहाँ से आता है लाखों करोड़ों। और लोग कौन हैं जो आत्मघाती बन जाते हैं। याद रहे कि आज तक जितने आतंकवादी पकड़े या मारे गए सब गरीब घरों से आये। सारे के सारे। आत्मघाती लोगों कि उम्र पर ध्यान देना ज़रूरी है।

इन लोगों को हथियार पकड़ाए जाते हैं जो सऊदी अरबिया ने चीन से अरबों में खरीदे और अमरीका ने बराबर ला-ला कर दिए सोवियत फ़ौजों के अफ़ग़ानिस्तान में आने के बाद से। और आज यही असलहे तालिबान सहित तमाम आतंकवादियों के हाथ में मुसलमानों का ही क़त्ल करने के काम आ रहे हैं।

अफ़ग़ानिस्तान में तालिबान ने एक जनवरी से लेकर अब तक लगभग 900 शिया हलाक किये। वहाँ हज़ारा शिया होते हैं। क्यों ऐसा हुआ। क्योंकि हज़ारा शिया और ईरान शिया बहुल राष्ट्र। हमारे मौनी बाबा मनमोहन कि ईरान यात्रा के मद्देनज़र ...राजनैतिक खेल पकिस्तान का।गौर कर के देखो।

जमात और देवबंद आज़ादी से पहले विभाजन के विरोधी थे। विभाजन

के बाद पाकिस्तान बनते समय दो मौलाना, मौलाना मौदूदी और मौलाना अबुल हसनात पाकिस्तान गए और 1948 से ज़हर घोलना शुरू किया। मगर कामयाबी मिली ज़ियाउल हक़ के आने के बाद।

इन वहाबियों ने सुन्नी समुदाय को बेहद बदनाम किया क्योंकि यह भी हैं तो सुन्नी। आज तक इन लोगों ने जितने हमले किये और जितने क़त्ल किये उसमे से 60 प्रतिशत शिया समुदाय तो हैं पर अहमदिया, बोहरा, इस्माइली के साथ-साथ सुन्नी समुदाय भी कम निशाना नहीं बना है।

वहाबी सूफ़ी मज़ारों से नफ़रत करते हैं और बहुत बड़ी सुन्नी जनसंख्या सूफ़ी संतों की मज़ारों पर जाती। है। बाबा बुल्लेशाह, बाबा फरीद कौन इन वहाबियों के निशाने से बच पाया? इंसानी एकता के प्रतीक इन सूफ़ियों की मज़ारों को युद्ध का मैदान बनाया इन आतंकी वहाबियों ने।

भारत में हुई कुछ आतंकी घटनाओं को एक तरफ़ रख कर देखा जाये तो 1979 के बाद अब तक आतंकी गतिविधियों में जो लाख से ऊपर मारे गए लोग हैं उनमे इस्लाम के अनुयायियों का प्रतिशत क्या है? लगभग 98 प्रतिशत।

अब सवाल है कि जिसे हम इस्लामी आतंकवाद कहते हैं, और जिसके नाम पर कहा जाता है 'सारे मुसलमान आतंकवादी होते हैं' वह कौन लोग हैं। कितने प्रतिशत हैं? किसको मार रहे हैं। वह खुद मुसलमान हैं क्या?

'समरथ' में प्रकाशित।

कट्टरता की इबारत

वहाबी इस्लाम सऊदी अरब सरकार की राजनीतिक विचारधारा है। पूरे स्कूली पाठ्यक्रम में इस विचारधारा का प्रचार शामिल है। सऊदी अरब में पब्लिक स्कूलों की संख्या लगभग 25 हजार है, जिनमें 50 लाख से ऊपर छात्र शिक्षा ग्रहण करते हैं। फारूक मस्जिद, टेक्सास (अमरीका) से बरामद एक 10वीं कक्षा की किताब 'साइंस ऑफ तौहीद' में दर्ज है कि ग़ैर-मुस्लिमों या ग़ैर-वहाबी मुस्लिमों के साथ रहना इस्लाम के ख़िलाफ़ है। इसीलिए अल्लाह का हुक्म है कि सिर्फ़ मुसलमानों (वहाबी मुसलमानों) के दरमियान उठो-बैठो। यह तो महज झलक है। ज़रा सऊदी अरब के शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत वहाँ पाठ्यक्रम में मौजूद कुछ उदाहरणों को देखें तो तस्वीर और साफ़ हो जाएगी।

“मुसलमान जो अंतर्धार्मिक संवाद में पड़ते हैं उनको भी अधार्मिक मानना चाहिए। सूफ़ी और शिया आस्था को भी इसी श्रेणी में रखा जाना चाहिए। जो मुस्लिम कोई और धर्म अपना ले उसे क्रल्ल कर दिया जाना चाहिए। एक मुसलमान के लिए जायज़ है कि उसका खून बहा दे और उसकी संपत्ति पर कब्जा कर ले।”

“जो सुन्नी मुस्लिम वहाबी विचारधारा में विश्वास नहीं रखते उनकी भर्त्सना करनी चाहिए और उन्हें हेय दृष्टि से देखना चाहिए और उनको बहु-ईश्वरवादी नस्ल की पैदावार मानना चाहिए। मुसलमानों पर जोर डालो कि ईसाई, यहूदी, बहु-ईश्वरवादी, और ग़ैर-वहाबी मुस्लिमों समेत तमाम अनास्था वालों से नफरत करनी चाहिए। न तो किसी ग़ैर-मुस्लिम या वहाबी आस्था में विश्वास न रखने वाले मुस्लिम से मेलजोल करो न ही आदर दिखाओ।”

“जिहाद के जरिए इस्लाम फैलाना 'मज़हबी फर्ज' है। एक सच्चे मुसलमान का फर्ज है कि अल्लाह के नाम पर जिहाद के लिए तैयार रहे। तमाम नागरिकों और सरकार का भी यही फर्ज है। सैन्य प्रशिक्षण आस्था में निहित है

और इसे लागू किया जाना चाहिए। जंग के लिए असलहे रखना ज़रूरी है। बेहतर तो यह हो कि विशिष्ट सैन्य वाहन, टैंक, रॉकेट, लड़ाकू विमान और वे अन्य सामान जो आधुनिक युद्ध में ज़रूरी होते हैं उनकी फैक्ट्रियां लगाई जाएं।”

ज़रा नज़र डालिए कि प्राथमिक शिक्षा में जिन बच्चों को पढ़ाया जाए कि ‘इस्लाम (वहाबी) के अलावा हर धर्म गलत रास्ते पर है।’ और फिर इम्तिहान में सवाल हो, रिक्त स्थान की पूर्ति करें “..... के अलावा हर धर्म गलत रास्ते पर है। जो मुसलमान नहीं है वह मरने के बाद में जाएगा।” जाहिर है कि पहले इन बच्चों को ग़ैर-इस्लामी कौन है यह बताया जा चुका है। इसमें ग़ैर-वहाबी सुन्नी, शिया समेत तमाम धर्म शामिल हैं।

एक मार्च, 2002 को ऐन-अल-यकीन नामक पत्रिका ने सऊदी अरब के राजशाही परिवार के वहाबियत को दुनियाभर में फैलाने के ऑनलाइन शैक्षणिक कार्यक्रम के बारे में रिपोर्ट दी। इसमें बताया गया कि किंग फहद अरबों सऊदी रियाल वहाबी इस्लामी संस्थानों और इस विचारधारा की शिक्षा पर खर्च कर रहे हैं। सऊदी अरब से बाहर पश्चिमी देशों में 210 इस्लामी केंद्र, 500 मस्जिदें, 202 कॉलेज और 2000 स्कूल एशिया, ऑस्ट्रेलिया और उत्तरी अमरीका में इन्हीं पाठ्यक्रमों के साथ खोले हैं, जिनमें वही शिक्षा दी जाएगी जो सऊदी अरब के पब्लिक स्कूलों में दी जाती है। मतलब जिहादी शिक्षा, नफरत की शिक्षा, आतंकी शिक्षा।

ऐन-अल-यकीन ने जो देश गिनाए उनमें दक्षिण एशिया, अफ्रीका, यूरोप और अमरीका सहित अस्सी देशों का जिक्र है। सऊदी अरब में तो वहाबियत राजनीतिक विचारधारा ही है और राष्ट्र एक वहाबी राष्ट्र, लेकिन इसका नासूर दुनिया भर में फैले इसके लिए मदीना स्थित इस्लामी विश्वविद्यालय में 85 सीटें विदेशी छात्रों के लिए आरक्षित हैं और इसमें लगभग 140 देशों के पांच हजार छात्र पंजीकृत हैं।

सऊदी अरब के शिक्षामंत्री फैसल बिन अब्दुल्लाह बिन मोहम्मद अल सऊद ने ज़हरीली शिक्षा का राज फाश होने के बाद 2005 में पाठ्यक्रम में सुधार लाने की बात की, लेकिन आज तक इस पर कोई अमल नहीं हुआ। इतना ही नहीं, इसी वर्ष यानी 2005 में एक अध्यापक को यहूदियों, शिया मुस्लिमों, ग़ैर-वहाबी सुन्नियों को भी इंसान बताने के जुर्म में सार्वजनिक रूप से 750 कोड़े और कैद की सज़ा हुई। बाद में अंतरराष्ट्रीय दबाव में कैद की सज़ा माफ की गई।

कौन-सी शिक्षा है यह? क्या मकसद है इस शिक्षा का? क्या बन रहे हैं यहां से तथाकथित शिक्षा प्राप्त करने वाले?

ईरान के प्रोफेसर मुर्तजा मुत्तरी के शब्दों में, इन वहाबियों को न इस्लाम की समझ है न कुरान की। लिहाजा इनका पूरा शिक्षाशास्त्र खूनी खेल ही सिखा सकता है। “वहाबियों का अकीदा है कि अल्लाह के दो पहलू हैं। पहला उसका तसव्वुर, जिसमें दाखिल होने की इजाजत किसी को नहीं। अल्लाह से वाबस्ता इबादत और तवस्सुल (अल्लाह तक पहुंचने का जरिया जैसे सुन्नी खलीफा या शिया इमामत) दो बिल्कुल अलग चीजें हैं। तवस्सुल तक आकर वहाबियत बाकी इस्लाम से दूर हो जाती है।

यह कुरान के ख़िलाफ़ है कि आप खालिक (अल्लाह) और मखलूक (इंसान) में मखलूक की अजमत को न मानें। खुदा ने आदम के सामने फरिशतों तक को सजदा करने को कहा और वहाबी उसे नकारते हैं। इस तरह से आप इंसान को अशरफ-उल-मखलूकात (जीवों में सर्वश्रेष्ठ) से गिरा कर सिर्फ जानवर बना देते हैं। जो लोग इंसान की श्रेष्ठता को ही नकारते हैं उनसे उम्मीद करना कि इंसानी खून की कोई कीमत होगी, बेकार ही है।

नफरत फैलाने का दूसरा जरिया है अन्य इस्लामी मान्यताओं को खारिज करना। इसी शिक्षा के अनुसार मज़ारों और कब्रों पर जाना भी इस्लाम के ख़िलाफ़ है। पूरे सऊदी पाठ्यक्रम में शुरू से ही बच्चों को यह तालीम दी जाती है। इससे फौरन इस्लामी सिलसिले के तमाम ग़ैर-वहाबी समुदाय इस्लाम से बाहर हो जाते हैं। इतना ही नहीं, वहाबी ऐसा कदम उठा कर खुद कुरान को झुठलाते हैं।

सूरह अल-कहफ में साफ आया है कि “अल्लाह का वादा सच है यह बताने के लिए इमारत बनाओ” (कुरान 18:21)। ऐसी मान्यता है कि कयामत के दिन उसमें से ही मुर्दे निकल कर आएंगे। लेकिन इंसानियत के दुश्मन वहाबी मज़ारों पर जाने वालों को क्रल्ल करते हैं और मज़ार तोड़ने की बाकायदा मुहिम चला रहे हैं। शिया अपने इमामों के लिए ज़ियारत (दर्शन) करने इराक, सऊदी अरब, ईरान सहित अन्य देश भी जाते हैं। सऊदी अरब में अब इस पर रोक लगा दी गई है।

पिछले कुछ वर्षों से वहाबियों ने सिलसिलेवार ढंग से सूफी संतों, शिया समुदाय, अहमदिया मुस्लिम और ग़ैर-वहाबी सुन्नी आस्था वाले प्रतीकों पर हमले शुरू किए। इनके हमले केवल इन प्रतीकों पर नहीं हुए, मक्का स्थित काबे के पीछे के हिस्से को भी इन्होंने ध्वस्त कर दिया। वहां पर बड़े-बड़े होटल और शॉपिंग मॉल बनाने शुरू किए। इनमें पेरिस हिल्टन का शॉपिंग मॉल मुख्य आकर्षण का केंद्र है। काबा के अलावा मदीना में इन्होंने मोहम्मद के परिवार और साथियों की मज़ारें और कब्रें तोड़नी शुरू कीं। इनमें मोहम्मद की बेटी फातिमा, अबू बकर

और उमर की मजारों और मस्जिदें प्रमुख हैं।

सूफी मजारों पर हमले तमाम हदों को पार कर गए। माली में 333 सूफी संतों की मजारों वाले मशहूर स्थल को वहाबियों ने ध्वस्त कर दिया। 1988 में यूनेस्को से विश्व-धरोहर के रूप में मान्यता-प्राप्त सिद्दी याहिया मस्जिद भी इन वहाबी हमलों की भेंट चढ़ी। लीबिया में 50 सूफी मजारों को इन वहाबियों ने एक साथ उड़ा दिया। सोमालिया में शायद ही सूफी संतों का कोई मजार बचा हो जो अल-शबाब के हमलों का शिकार न हुआ हो। पाकिस्तान में बाबा फरीद, बाबा बुल्लेशाह, हजरत दाता गंजबख्श सहित अनेक मजारों पर लगातार वहाबी तालिबानी हमले हुए।

सऊदी अरब समर्थित ये हमले अल-क्रायदा और उसके सहयोगी संगठन अंजाम देते आए हैं। वहाबियत पूरी तरह से फासीवादी विचारधारा में ढल चुकी है जो इस धरती से मोहब्बत का नाम मिटा देना चाहती है। ज़रा एक नज़र देखें कि वहाबियत का इस्लाम जो कर रहा है उसके बरक्स सूफी मत कैसा पैगाम दे रहा है।

निजामुद्दीन औलिया के बारे में मशहूर है कि बादशाह अलाउद्दीन खिलजी ने उनसे इस्लाम का प्रचार करने के लिए कश्मीर जाने को कहा। निजामुद्दीन का जवाब था कि मैं मोहब्बत का पैगाम देता हूँ, मेरे लिए मुमकिन नहीं कि इस्लाम का प्रचार करने कश्मीर जाऊँ। इसके बाद अलाउद्दीन ने अमीर खुसरो के जरिए निजामुद्दीन को दरबार तलब किया। निजामुद्दीन ने पैगाम भेजा कि जो सूफी सत्ता के नजदीक जाता है वह ईमान खो बैठता है। अलाउद्दीन ने कहलाया कि मैं खुद आ रहा हूँ। निजामुद्दीन ने कहा, मेरी खानकाह में आने पर किसी को रोक नहीं, मगर मेरी खानकाह के दो दरवाजे हैं। जिस वक़्त एक दरवाजे से बादशाह के कदम मेरी खानकाह में पड़ेंगे, उसी वक़्त दूसरे दरवाजे से मैं निकल जाऊँगा।

बाबा बुल्लेशाह। मोहब्बत का पैगाम देने वाले इस सूफी को कौन नहीं जानता। ज़रा देखिए क्या है मज़हब इनकी नज़र में। “होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह/ नाम नबी की रतन चढ़ी, बूंद पड़ी इल्लल्लाह/ रंग-रंगीली उही खिलावे, जो सखी होवे फना-फी-अल्लाह/ होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह/ अलस्तु बिरबिबकुम पीतम बोले, सभ सखियां ने घूँघट खोले? कालू बला ही यूँ कर बोले, ला-इलाहा-इल्लल्लाह/ होरी खेलूंगी कह कर बिस्मिल्लाह।”

वारिस शाह की हीर आज भी मोहब्बत का पैगाम बनी हुई है। सितार की ईजाद करने वाले अमीर खुसरो फरमाते हैं—“काफिर-ए-इश्कम मुसलमानी मरा दरकार नीस्त/ हर रग-ए-मन तार गश्ता हाजत-ए-जुन्नार नीस्त” (इश्क का काफिर हूँ मुसलमान होना मेरी ज़रूरत नहीं। मेरी हर रग तार बन चुकी है मुझे

जनेऊ की भी ज़रूरत नहीं)।

वहाबी मत ने पिछले लगभग दो दशक में न सिर्फ मासूम इंसानों का खून बहाया है बल्कि मोहब्बत का भी खून किया है। इस महाद्वीप में निजामुद्दीन औलिया, मोइनुद्दीन चिश्ती, अमीर खुसरो, वारिसशाह, बुल्लेशाह, बाबा फरीद जैसे सूफ़ी संतों ने धार्मिकता की कट्टर जंजीरें तोड़ते हुए सिर्फ और सिर्फ मोहब्बत का पैगाम फैलाया था। वहाबी आंदोलन इन संतों की मज़ारों को रौंदता हुआ इनके मोहब्बत के पैगाम का भी गला घोट रहा है। और इसके लिए सऊदी अरब बेपनाह धन खर्च कर रहा है।

जो देश अपने स्कूलों में नफरत की शिक्षा देगा, वहां से निकलने वाली विचारधारा और उस विचारधारा के वाहक ऐसे शिक्षा संस्थानों से निकलने वाले विद्यार्थी क्या गुल खिला सकते हैं इसका अंदाजा अफ्रीका, अरब देशों, दक्षिण एशिया और यहां तक कि पश्चिमी देशों में चल रहे खूनी खेल से लगाया जा सकता है। सऊदी अरब जैसे देश और दारुल उलूम जैसे शैक्षणिक संस्थानों का यह गठजोड़ आज सारी दुनिया को बारूद के ढेर पर बिठा चुका है। इससे पहले कि इस बारूद के ढेर को आग लगे, इन वहाबियों और इनकी विचारधारा को साकार रूप देने वाले अल-क्रायदा और उनके सहयोगी संगठनों का समूल नाश समय की मांग है।

‘जनसत्ता’ (22 अक्टूबर, 2013) में प्रकाशित।

आतंकवादी कौन है ?

आतंकवादी कौन कहलाएगा ? जो समाज में दहशत का माहौल पैदा करे, जो समाज का ताना-बाना बिखेरने पर आमादा हो। आतंक आखिर फैलता इसी तरह है कि लोग असलहों की नोक पर डराए जाएं। लोगों का खून पानी की तरह बहे, लूट-खसोट हो। दुनिया भर में ऐसे संगठनों की लंबी सूची है। भारत के पास भी एक ऐसी सूची है। इसी वर्ष 20 अगस्त को केंद्रीय गृह राज्यमंत्री आरपीएन सिंह ने यह सूची संसद में सरकार की तरफ से पेश की। उन्होंने ऐसे संगठनों की संख्या 66 बताई। यहां गौरतलब है कि मंत्री महोदय ने शब्दावली का उपयोग निहायत एहतियात के साथ किया। उन्होंने आतंकी के साथ उग्रवादी और राष्ट्र-विरोधी शब्द इस्तेमाल किए। कौन-सा शब्द किसके लिए इस्तेमाल हुआ, इस पर गौर करना ज़रूरी है।

इन 66 संगठनों में से 34 तो अकेले पूर्वोत्तर के राज्य मणिपुर में राष्ट्र-विरोधी और विध्वंसक गतिविधियां अंजाम देने में लगे हैं। इन 34 संगठनों को कहीं भी आतंकी नहीं कहा गया। माना जाए कि राष्ट्र-विरोधी और विध्वंसक होना आतंकवाद नहीं होता ? 'उत्तर-पूर्व में असम में 11, मेघालय और नगालैंड में चार, मिजोरम और त्रिपुरा में दो-दो अलगाववादी संगठन सक्रिय हैं।' इसी वक्तव्य में आगे माओवादी और नक्सल गतिविधियों को आरपीएन सिंह ने 'वामपंथी उग्रवाद' की संज्ञा दी। अब उनके वक्तव्य के इस हिस्से पर नज़र डालें—कम-से-कम पांच आतंकवादी संगठन, लश्कर-ए-तैयबा, इंडियन मुजाहिदीन, हिज्बुल मुजाहिदीन, हरकत-उल-जिहाद-ए-इस्लामी और अल-बद्र पूरे देश में, विशेषकर राजधानी दिल्ली, उत्तर प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, केरल, राजस्थान और आंध्र प्रदेश में फैले हैं।' (अजीब बात है कि केंद्रीय गृह राज्यमंत्री से 'सिमी' का नाम कैसे छूट गया और किसी ने सवाल भी नहीं उठाया)।

आमतौर पर ऐसे वक्तव्य अखबारों और चैनलों के जरिए गुज़र कर आगे

बढ़ जाते हैं और कोई इन पर अंगुली भी नहीं उठाता। हां ऐसे वक्तव्य एक काम कर जाते हैं। आतंकवाद को एक विशेष समुदाय से जोड़ना और अन्य जघन्य अपराध जो ठीक इसी तर्ज पर अंजाम दिए जाते हैं उनको आतंकी न मान कर उग्रवादी जैसे नर्म-नाजुक शब्दों में लपेट देना। सरकारी तौर पर ऐसे हर मुद्दे पर बोलने वाले दिग्विजय सिंह उसी पार्टी के नेता हैं जिसकी सरकार यह बयान देती है। जाहिर है उनकी सहमति भी होगी कि कहां क्या शब्दावली इस्तेमाल की जाए। मगर वह इस मुद्दे पर अल्पसंख्यकों के अलमबरदार बनने का कोई मौका नहीं छोड़ते। यह सरकारी ज़बान पुलिस, खुफिया एजेंसियां ठीक उसी तर्ज पर बोलती हैं जैसे सरकार बोलती है। मीडिया का तो कहना ही क्या!

सरकारी वक्तव्य और खुफिया एजेंसियों से कहीं ज़्यादा बड़ी भूमिका मीडिया की है जिसने इस मान्यता को जन-मानस में ऐसे बिठा दिया है कि आतंकवाद का नाम आते ही आम हिंदुस्तानी बस एक ही नज़रिए से सोचता है, 'इस्लामी आतंकवाद'। यह कौन-सा इस्लाम है इस पर काफी बात पहले ही हो चुकी है, लिहाजा यहां विस्तार दरकार नहीं। 'बोधगया में महाबोधि परिसर में 10 बम फटे। आतंकवादी हाथ होने के पुख्ता सुबूत'। यह थी एक जाने-माने हिंदी दैनिक की अगले दिन की सुर्खी। सारे टीवी चैनलों ने एकदम यही भाषा बोली। बम फटा है तो कोई अहिंसा का पुजारी, कोई सच्चा गांधीवादी तो बम फोड़ने से रहा। क्रूर, हिंसक और खूनी खेल खेलने वाला आतंकी या दहशतगर्द नहीं होगा तो कौन होगा। कौन-सी बड़ी गहरी खबर लाए आप जिससे यह सुर्खी बनाई? मगर है बड़ी गहरी बात। इतना लिख कर सब कुछ कह दिया।

अखबार ने जो नहीं लिखा वह संदेश सब तक पहुंच गया। संदेश था कि घटना को अंजाम देने वाले माओवादी या नक्सल उग्रवादी नहीं हैं। पूर्वोत्तर राज्यों में सक्रिय अलगाववादी, भूमिगत गिरोह नहीं हैं, विशेषकर मणिपुर के 34 राष्ट्र-विरोधी और विध्वंसक गतिविधियां अंजाम देने वाले लोगों का इनमें कोई हाथ नहीं। अब जो बचा वही यह कारनामा अंजाम दे गया। लश्कर-ए-तैयबा, इंडियन मुजाहिदीन, हिज्बुल मुजाहिदीन, हरकत-उल-जिहाद-ए-इस्लामी और अल-बद्र में से किसी एक का होना तय पाया गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि अंततः इंडियन मुजाहिदीन का नाम सामने आया और अभी उसकी खोजबीन चल रही है, पर बात शब्दावली के चुनाव की है।

इस मानसिकता को अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में रख कर देखा जाना चाहिए। 1996 में प्रकाशित सैमुएल हंटिंगटन की किताब 'क्लैश ऑफ सिविलाइजेशन एंड रिमेकिंग ऑफ वर्ल्ड आर्डर' इस पूरे ताने-बाने का शुरुआती कदम है।

हंटिंगटन की अवधारणा का केंद्र इस्लामी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता के बीच टकराव है। हंटिंगटन ने लिखा 'सभ्यताओं का टकराव विशेष रूप से मुस्लिमों और गैर-मुस्लिमों के बीच अधिक दिखाई देता है।' हंटिंगटन इसे इस्लामी और गैर-इस्लामी सभ्यताओं के बीच 'खूनी सरहदें' नाम देते हैं।

इसके इतिहास के रूप में वे इस्लामी सभ्यता और ऑटोमन साम्राज्य का हवाला देते हैं। जाहिर है अमरीका को हमेशा से एक दुश्मन की तलाश रही है, जिसे केंद्र बना कर वह अपने देश में राष्ट्रवाद की लहर कायम रखना चाहता रहा है। सोवियत संघ के विघटन और शीतयुद्ध की समाप्ति के साथ यह दुश्मन भी समाप्त हो गया। अब नए दुश्मन के रूप में पेट्रोलियम से समृद्ध इस्लामी दुनिया नज़र आई। हंटिंगटन का सिद्धांत इसी नए दुश्मन के सिद्धांत की उपज है।

एडवर्ड सर्ईद ने हंटिंगटन के जवाब में लिखा कि हंटिंगटन के लेखन में संस्कृतियों के दरमियान अंतर्संबंध और साझेपन के लिए कोई जगह ही नहीं है। यह सिद्धांत नस्लवादी सिद्धांत है और हिटलर की तर्ज पर ही अरब और मुस्लिमों की तरफ इसका निशाना है। एडवर्ड सर्ईद ने यह भी कहा कि इस्लामी सभ्यता के अंदर जितनी सूक्ष्मता और बहुलता है उस पर नज़र डाले बिना हंटिंगटन ने आधारहीन सिद्धांत प्रस्तुत कर दिया। नोम चोम्स्की ने सभ्यता के टकराव को यह कह कर खारिज किया कि शीतयुद्ध के बाद सोवियत संघ का खतरा मिट जाने से अमरीका को एक ऐसा दुश्मन दरकार था जिस पर वह मनमाना अत्याचार कर सके। हंटिंगटन का यह पूरा सिद्धांत और उसके बाद विश्व व्यापार केंद्र पर हमला और अफ़ग़ानिस्तान से लेकर इराक तक बे-रोक-टोक मनमानी करना और इस्लामी सभ्यता को दुश्मन के रूप में पेश कर देना एडवर्ड सर्ईद और नोम चोम्स्की की प्रतिक्रियाओं की पुष्टि है।

आतंकवाद का नाम लेते ही क्यों एक विशेष छवि उभरती है। इसका कारण उपरोक्त संदर्भ में तलाश किया जा सकता है। विश्व व्यापार केंद्र पर हमले ने जो अवसर प्रदान किया उसके तहत तत्कालीन अमरीकी राष्ट्रपति और पूरे अमरीकी प्रशासन ने एक ऐसा जाल बुना जिसके तहत आतंकवाद और इस्लाम पर्याय बन जाएं। ठीक वही हुआ। पिछले दो दशक के अंदर सोचे-समझे तरीके से यह आम समझ बनाई गई कि इस्लाम ही आतंकवाद का दूसरा नाम है।

हिंदुस्तान जहां मुसलमानों की संख्या दक्षिण एशिया के इस्लामी देशों जैसे पाकिस्तान और बांग्लादेश से कहीं अधिक है वहां इस मानसिकता ने तबाही मचा दी। आम लोगों में यह बात बिठाई जाने लगी कि सारे मुसलमान आतंकवादी हैं या फिर सारे आतंकवादी मुसलमान हैं। ऐसी सोच ने हिंदुस्तान की सेक्युलर सोच

और सेक्युलर सामाजिक व्यवहार को बहुत गहरा आघात पहुंचाया। हर दाढ़ी-टोपी वाला शक के दायरे में आने लगा। यहां तक कि सार्वजनिक परिवहन में एक खास वेशभूषा वालों के साथ बैठने से लोग डरने लगे। यह केवल अमरीकी मंशा की जीत नहीं थी बल्कि सदियों से तराशे गए हिंदुस्तान के सेक्युलर सामाजिक व्यवहार और सोच की बड़ी हार थी। आतंकवाद शब्द में अनकहे शब्द निहित कर देने और उसे खास अर्थ दे देने में अमरीकी जालसाजी ही शामिल नहीं है, इसमें सरकारों की मंशाएं भी शामिल हैं।

सन 2002 के गुजरात जनसंहार के बाद गोवा में तत्कालीन प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी ने कहा था कि जहां भी मुस्लिम बड़ी संख्या में होते हैं, वहां शांति का माहौल नहीं बना रह पाता। ऐसा वक्तव्य उस समय आया जब गुजरात में आग बुझी भी न थी! और बात केवल भारतीय जनता पार्टी और उसके सहयोगी दलों तक नहीं सिमटती है, उसके बाद यूपीए सरकार ने भी यही रवैया अपनाए रखा। जैसा कि 20 अगस्त के केंद्रीय गृह राज्यमंत्री आरपीएन सिंह के बयान से साफ है कि आज भी सेक्युलरिज्म की झंडाबरदार पार्टी कहलाने वाली कांग्रेस तमाम खूनी खेल खेलने वाले गैर-इस्लामी संगठनों के लिए अलगाववादी, राष्ट्रद्रोही, विघटनकारी, उग्रवादी जैसे नाम देती है लेकिन आतंकवाद की संज्ञा एक खास समुदाय के लिए ही बचा कर रखी गई है।

भारतीय मीडिया ने तो जैसे अमरीका और भारत सरकार से इस मामले में गठबंधन कर रखा है। ठीक वही शब्दावली जो सरकारी है, सारा का सारा मीडिया इस्तेमाल करता आया है। बात यहीं आकर नहीं रुकती। इसकी चपेट में वामपंथी दलों के मुखपत्र भी शामिल हैं। अक्सर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के मुखपत्र 'मुक्ति संघर्ष' और 'न्यू एज' में इसे साफ तौर पर देखा जा सकता है। ठीक यही ढर्रा माकपा के मुखपत्र 'लोकलहर' और 'पीपुल्स डेमोक्रेसी' में भी नज़र आएगा। मतलब इस खतरनाक साजिश में जाने-अनजाने दक्षिणपंथी, मध्यमार्गी और वामपंथी दल एक ही पाले में खड़े नज़र आते हैं। और जाहिर है कि ऐसा सब कुछ होते रहने देने के लिए रास्ता साफ करते हैं वे वहाबी संगठन, जो बेशक आतंकवादी हैं।

लश्कर-ए-तैयबा, इंडियन मुजाहिदीन, हिज्बुल मुजाहिदीन, हरकत-उल-जिहाद-ए-इस्लामी और अल-बद्र, तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान, अल-क्रायदा, जैश-ए-मोहम्मद जैसे अनेक आतंकवादी संगठन अपने खूनी खेल में हिंदुस्तान के तमाम मुसलमानों को शक के दायरे में ला खड़ा करते हैं। लेकिन इनका तो काम ही यही है। बुनियादी बात यह है कि किस तरह से सरकार, राजनीतिक दल और

मीडिया जाने-अनजाने एक ऐसी साजिश का शिकार हो जाते हैं जिसमें एक ही तरह की खूनी गतिविधियों को चलाने वाले संगठनों को इस प्रकार श्रेणीबद्ध करते हैं जिसके तहत एक पूरा का पूरा समुदाय निशाने पर आ जाए। आतंकवाद आतंकवाद है, फिर चाहे वह पूर्वोत्तर राज्यों के भूमिगत समूहों द्वारा अंजाम पाए, माओवादियों और नक्सलवादियों के हाथों पनपे या फिर वहाबी कट्टरपंथी उसे अंजाम दें। लेकिन जब खुद सरकार और मीडिया इस साजिश के हिस्सेदार बन जाएं तो क्या ताज्जुब कि आम जनता के बीच समझ बनेगी कि सारे मुसलमान आतंकवादी हैं या फिर सारे आतंकवादी मुसलमान।

‘जनसत्ता’ (28 अक्टूबर, 2013) में प्रकाशित।

आतंकवाद और भारत

मौलाना मौदूदी का पाकिस्तान को एक इस्लामी राष्ट्र के रूप में देखने का जो सपना था उसमें पारिवारिक संबंध, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक मसले, प्रशासन, नागरिकों के अधिकार और कर्तव्य, न्यायपालिका, युद्ध के नियम आदि सभी इस्लामी शरीआ के अनुरूप ढाला जाना था। उन्होंने नागरिकों की दो श्रेणियां बनाई थीं। एक मुस्लिम और दूसरे जिम्मी। मुस्लिमों को ही हक दिया गया कि शासन-प्रशासन चलाएं, गैर-मुस्लिमों को नहीं। अपनी किताब 'मीनिंग ऑफ कुरान' में उन्होंने लिखा, "मुसलमानों को जजिया जैसे मानवीय कानून पर गर्व होना चाहिए कि जो अल्लाह के रास्ते पर नहीं चल रहे उनको अधिकतम आजादी यही दी जा सकती है कि ऐसी (दरिद्रता की) जिंदगी गुजारें। यहूदी और ईसाई के लिए जजिया बेहद जरूरी है जिससे उनकी आर्थिक आजादी और प्रभुत्व समाप्त हो।" वह आगे लिखते हैं कि "राष्ट्र गैर-मुसलमानों को सुरक्षा तभी दे सकता है, जब वे दोयम दर्जे की जिंदगी गुजारने को तैयार हों और जजिया तथा शरीअत के कानून को मानें।"

इसी संदर्भ को आगे लिया जाए तो हिंदुस्तान के बारे में भी उनकी राय देखनी होगी। यह भी देखना होगा कि हिंदुस्तानी मुसलमानों को वे किस रूप में देखना चाहते थे। ठीक वैसे ही, जैसे शरीअत के अनुसार, गैर-मुस्लिमों को पाकिस्तान में देखना चाहते थे। मौलाना मौदूदी ने 1953 में लाहौर में अहमदिया मुसलमानों के जनसंहार के बाद बनी जांच समिति के सामने बयान दिया कि अब पाकिस्तान इस्लामी राष्ट्र बन गया है तो हिंदुस्तान को हिंदू राष्ट्र हो जाना चाहिए। और हां, जो मुस्लिम पाकिस्तान नहीं आए उन्हें हिंदुस्तान में शूद्र का दर्जा मिलना चाहिए। आज उनकी दोनों ही मंशाएं पूरी होती दिख रही हैं, लेकिन वह खुद अपने ख्वाबों की ताबीर न देख सके।

किस कदर खतरनाक ख्वाब थे जो आज सामने हकीकत का रूप लेते

दिख रहे हैं! तालिबान और अल-क्रायदा के हाथों पाकिस्तान में वही सब हो रहा है, जो मौदूदी का ख्वाब था। हिंदुस्तान में हिंदुत्व और पाकिस्तान में पल रहे आतंकियों के कारण हिंदुस्तानी मुसलमान अपने आप दोगेयम दर्जे का नागरिक बनता जा रहा है जिसमें तालिबानी आतंकी भी बेहद अहम भूमिका निभा रहे हैं।

मोहम्मद अली जिन्ना ने अपनी महत्वाकांक्षा के लिए उपमहाद्वीप को खून में डुबो दिया, मगर जिस पाकिस्तान की नींव पड़ी उस पर 11 अगस्त को पाकिस्तान की संसद के पहले इजलास में जिन्ना ने साफ तौर पर कहा “आप किसी भी मजहब, जाति या पंथ के हो सकते हैं, राज्य का इसमें कोई दखल नहीं होगा। आप देखेंगे कि समय के साथ-साथ न कोई हिंदू रह जाएगा न कोई मुसलमान। धार्मिक अर्थों में नहीं क्योंकि वह निजी आस्था है, बल्कि राजनीतिक तौर पर, देश के एक नागरिक के रूप में।”

लेकिन हुआ क्या आखिर, विशेषकर दो दिसंबर 1978 को जियाउल-हक के बहुचर्चित भाषण के बाद। ‘निजाम-ए-मुस्तफा’ या इस्लामी कानून नाफिज होने के बाद, एक के बाद एक कानून बदले गए। 1980 में पाकिस्तान के संविधान और पाकिस्तान दंड संहिता में बदलाव के साथ ईशनिंदा कानून भी लगा दिया गया। मौदूदी के सपने साकार होना शुरू हुए। और इसी दौरान शुरू हुआ पाकिस्तान का तालिबानीकरण। अफगानिस्तान से शुरू होकर पाकिस्तान तक तालिबान को अमरीकी, सऊदी और पाकिस्तानी राजनीतिक समर्थन और अथाह पैसे ने पाकिस्तान को आखिर मौदूदी के सपनों का मुल्क बनाना शुरू किया और इसकी काली छाया जो हिंदुस्तान पर पड़ी तो हिंदुस्तान गोलवलकर और मौदूदी के सपनों का मुल्क बनने की राह पर चल पड़ा।

आज पाकिस्तान में अल्पसंख्यक दोगेयम दर्जे की जिंदगी गुजारने को मजबूर हैं, तालिबान जजिया का एलान ही नहीं करते, बल्कि वसूलते हैं और पाकिस्तान की सरकार कोई कदम नहीं उठाती। शरीअत के कानून को पाकिस्तान के कबायली समाज पर पूरी तरह तालिबान ने नाफिज कर रखा है। अल्पसंख्यक ही नहीं, ग़ैर-वहाबी मुस्लिम भी इनकी बंदूकों का निशाना बन रहे हैं। मौदूदी ने 1953 में अहमदिया मुसलमानों का क्रुल्ल-ए-आम करवाया था और अब तालिबान उसी काम को आगे बढ़ाते हुए शिया मुस्लिमों का क्रुल्ल-ए-आम कर रहे हैं। शरीआ कानून और ‘निजाम-ए-मुस्तफा’ को चार चांद लगा रहे हैं! कोई इनके खिल्लाफ़ आवाज़ नहीं उठा सकता।

अब ज़रा हिंदुस्तान की तस्वीर पर एक नज़र डालते हैं। पिछले लगभग डेढ़ दशक में अल-क्रायदा और तालिबान गठजोड़ ने हिंदुस्तानी मुसलमानों को

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप से दोगेय दजे का नागरिक बना डाला। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और विश्व हिंदू परिषद की इससे बड़ी मदद और क्या हो सकती थी!

हिंदुस्तान पर आतंकी हमलों से न तो राजनीति की मुख्यधारा को और न ही बहुसंख्यक समुदाय को इतना नुकसान पहुंचा जितना कि पाकिस्तान की पूरी आबादी से अधिक तादाद में हिंदुस्तान में मौजूद मुस्लिम अल्पसंख्यकों को। 'आतंकवाद के खिलाफ जंग' और जम्मू-कश्मीर विधानसभा और संसद भवन पर हमले, और एक के बाद एक आतंकी घटनाओं ने हिंदुस्तानी मुसलमानों में दहशत, असुरक्षा और लगभग सामाजिक बहिष्कार की स्थिति बना दी। संसद और मुंबई हमलों के बाद अगर कहीं सार्वजनिक वाहन में कोई दाढ़ी वाला, विशेष वेशभूषा वाला व्यक्ति मौजूद हो तो लोग सीटों के नीचे झांकते नजर आते हैं कि कहीं विस्फोटक पदार्थ न छिपा हो। लोग उसको ऐसी नजरों से देखते हैं जैसे वह सचमुच आतंकवादी हो। हिंदुस्तानी मुस्लिमों के साथ हिंदुस्तान में कैसा सलूक हो, मौदूदी का सपना साकार होने लगा।

दिल्ली और मुंबई जैसे महानगरों में कोई मुस्लिम नाम वाला व्यक्ति किराये पर घर लेना चाहे तो मुश्किलों का पहाड़। मिश्रित आबादी वाले इलाकों में भारी तब्दीली आनी शुरू हुई। दिल्ली में ओखला, जामिया नगर, ज़ाकिर नगर जैसे इलाकों में मुस्लिम आबादी में बाढ़ आ गई। राजनीतिक हलकों ने बड़ी सावधानी से इस आग में घी का काम किया। रेडियो और टेलीविजन पर सरकारी प्रचार को ही लें। किसी अनजान को किराये पर घर देने के पहले पुलिस से तस्दीक करें। किसी के चेहरे पर नहीं लिखा होता कि वह आतंकी या अपराधी है। अब आतंकी नाम सुनते ही जो छवि उभरती है वह बिना मूंछ की दाढ़ी, कुर्ता-पायजामा और जालीदार टोपी वाले एक इंसान की। भले ही आप जब किराये का मकान देखने जाएं तो आप बिना मूंछ की दाढ़ी और कुर्ता-पायजामा और जालीदार टोपी वाले न हों। सारी बातचीत तय हो जाने पर बस अपना नाम बता दें। नाम मुसलमानों जैसा होना काफी है। बहाना बना कर आपको टाल दिया जाएगा।

सरकारी तंत्र, ऐसी स्थिति न आने देने के लिए, क्या और कोई तरीका नहीं अपना सकता था? ऐसे शक के माहौल में, जब मानसिकता ऐसी बनने लगे कि 'सारे मुसलमान आतंकवादी हैं' या 'सारे आतंकवादी मुसलमान हैं', इस तरह के टीवी और रेडियो विज्ञापन शक के दायरे को बढ़ाते हैं या आतंकवाद को रोकते हैं? खैर, यह एक अलग मसला है। यहां देखना यह है कि मौदूदी और गोलवलकर के हू-ब-हू एक ही सपने को आतंकवाद ने साकार कैसे किया इस

मुल्क में। जिस तरह से अल-क्रायदा और उसके सहयोगी संगठन तालिबान ने हिंदुस्तान में आतंकी गतिविधियां चलाई उससे हिंदुस्तानी मुसलमान सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक रूप से दोयम दर्जे का नागरिक कैसे बन गया। राजनीतिक रूप से वह कैसे पिछड़ने लगा।

इन संगठनों ने यानी अल-क्रायदा और तालिबान ने जहां मुसलमानों को सामाजिक बहिष्कार की स्थिति में ला दिया, वहीं सेक्युलरिज्म का दम भरने वाली कांग्रेस सहित तथाकथित प्रगतिशील विचारधारा वाली पार्टियों ने उसे हाशिये पर ला खड़ा किया। चार राज्यों के चुनाव में 589 नवनिर्वाचित विधायकों में मुस्लिम विधायकों की संख्या केवल आठ है।

शायद पहली बार ऐसा हुआ हो। पिछली बार इनकी संख्या 20 थी। और वह भी इनको चुनाव में उतारा इसलिए गया था कि इनमें से सात पिछले चुनाव में जीते हुए थे और फिर जीतने की उम्मीद थी इनसे। छत्तीसगढ़ में एक भी मुस्लिम विधायक नहीं; राजस्थान में संख्या 12 से घट कर दो हो गई और मध्यप्रदेश में सिर्फ एक विधायक मुस्लिम है। आरिफ अकील ने खुद कहा कि उन्होंने कांग्रेस पर जोर डाला कि कम से 20 मुस्लिम उम्मीदवार खड़े किए जाएं मगर पार्टी ने पांच से ज्यादा उम्मीदवार खड़े करने से इनकार कर दिया। यह इस बात का संकेत है कि राजनीतिक दल जोखिम नहीं उठाना चाहते और नतीजे के तौर पर मुस्लिम समुदाय को जाने-अनजाने हाशिये पर डाल रहे हैं। कौन है इसका जिम्मेवार? क्या सिर्फ भारतीय राजनीतिक परिवेश या फिर आतंकवाद का पीठ पर लगा ठप्पा। एक बार कोई समुदाय राजनीतिक तौर पर हाशिये पर जाने लगे तो उसके जीवन के अन्य पक्ष खुद-ब-खुद कमजोर होने लगते हैं। सामाजिक तौर पर उसकी स्थिति के उदाहरण ऊपर आ ही चुके हैं।

आसान रास्ता होगा कि ऐसी स्थिति के लिए हिंदुत्व के उभार को जिम्मेवार मान लिया जाए और अपनी ऊर्जा इसी के खिलाफ लड़ाई में लगाई जाए। मान लिया जाए कि भारतीय जनता पार्टी का रुख तो जिम्मेवार है ही, अन्य राजनीतिक दल भी 'नरम हिंदुत्व' के साये में आ गए हैं। ऊर्जा इस लड़ाई में लगाना ज़रूरी है, लेकिन उतना ही ज़रूरी है दूसरे रुख की पड़ताल, जिसने ऐसी सोच को वैधता दी। महानगरों में अगर बहुसंख्यक समुदाय का व्यक्ति अपना मकान किराये पर अल्पसंख्यक को नहीं देना चाहता तो यह मान लेना स्थिति का सरलीकरण होगा कि ऐसे सारे के सारे बहुसंख्यक सांप्रदायिक हो गए। उनकी ओर से भी सोचना ज़रूरी है। घर देने में झिझक कि कहीं किरायेदार सचमुच आतंकी न हो। फिर पुलिस-थाना कौन करे! आसान रास्ता है झंझट में न पड़ना;

कोई न कोई किरायेदार मिल ही जाएगा जो शक के दायरे में नहीं आएगा।

अगर अल-क्रायदा और तालिबानी हमलों को हिंदुस्तानी माहौल से निकाल कर सोचें तो क्या मुसलमान ऐसी स्थिति में पहुंचता? क्या बसों और मेट्रो में या अन्य सार्वजनिक स्थलों पर उसको शक की निगाह से देखा जाता? क्या 'सारे मुसलमान आतंकवादी हैं' या 'सारे आतंकवादी मुसलमान हैं' जैसी सोच बहुसंख्यकों के दिलों में घर करती? भारतीय मुसलमानों की जैसी सामाजिक स्थिति आज बन चुकी है उसमें आतंकी संगठनों की भूमिका भी देखनी होगी। यह भी देखना होगा कि आज फासीवाद की जो दस्तक है इस मुल्क के दरवाजे पर, और नमो-नमो का जाप सुनाई दे रहा है, उसमें अल-क्रायदा और तालिबान जैसे वहाबी संगठनों ने कितनी बड़ी भूमिका निभाई है।

*'जनसत्ता' (21 दिसम्बर, 2013) में प्रकाशित।
(यह खुर्शीद अनवर का आखिरी लेख है जो उनके न रहने के
दो दिन बाद प्रकाशित हुआ।)*

वहाबियत की असलियत

हालांकि पहले भी आतंकवाद पर कोई बहस या बातचीत आम जन के दिमाग को सीधे इस्लाम की तरफ खींच ले जाती थी। लेकिन विश्व व्यापार केंद्र पर हमले और उसके बाद दो नारों 'आतंकवाद के खिलाफ जंग' और 'दो सभ्यताओं के बीच टकराव' ने ऐसी मानसिकता बनाई कि दुनियाभर में आम इंसानों के बीच एक खतरनाक विचार पैठ बनाने लगा कि 'सारे मुसलमान आतंकवादी होते हैं'। कुछ 'नर्मदिल' रियायत बरतते हुए इसे 'हर आतंकवादी मुसलमान होता है' कहने लगे। था तो यह राजनीतिक षड्यंत्र, लेकिन आम लोग हर मुद्दे की तह में जाकर पड़ताल करके समझ बनाएं यह मुमकिन नहीं। मान्यताएं उनमें टूसी जाती हैं। जिसे 'इस्लामी आतंकवाद' कहा गया, वह दरअसल है क्या? यह आतंकवाद सचमुच इस्लामी है या कुछ और? अगर इस्लाम ही है तो इसकी जड़ें कहां हैं? इस तथ्य का खुलासा करने के लिए एक शब्द का उल्लेख और उसका आशय समझ कर ही आगे बात की जा सकती है : 'जिहाद'! आखिर जिहाद है क्या? इसकी उत्पत्ति कहां से हुई और आशय क्या था?

जिहाद की कुरान में पहली ही व्याख्या 'जिहाद अल-नफस' यानी खुद की बुराइयों के खिलाफ जंग है।

जब ऐसा है तो फिर अचानक वह जिहाद कहां से आया जो इंसानों का, यहां तक कि मासूम बच्चों का खून बहाना इस्लाम का हिस्सा बन गया। दुनिया भर में 'इस्लामी' आतंकवाद खतरा बन मंडराने लगा। पर कहां से आया यह खतरा?

इस्लाम जैसे-जैसे परवान चढ़ा, अन्य धर्मों की तरह इसके भी फिरके बनते गए। एक रूप इस्लाम का शुरू से ही रहा और वह था राजनीतिक इस्लाम। जाहिर है कि सत्ता के लिए न जाने कितनी जंग लड़ी गई और खुद मोहम्मद ने जंग-ए-बदर लड़ी। आसानी से कहा जा सकता है कि यह जंग भी मजहब को

विस्तार देने के लिए लड़ी गई। मगर असली उद्देश्य था सत्ता और इस्लामी सत्ता। जंग-ए-बदर में सब कुछ वैसा ही हुआ जैसा किसी जंग में होता है, पर जिहाद की कुरान में दी गई परिभाषा फिर भी जस की तस रही। वर्ष 1299 में राजनीतिक इस्लाम ने पहला बड़ा कदम उठाया और ऑटोमन साम्राज्य या सल्तनत-ए-उस्मानिया की स्थापना हुई (1299-1922)। आम धारणा कि यह जिहाद के नाम पर हुआ, मात्र मनगढ़ंत है। सत्ता की भूख इसकी मुख्य वजह थी।

जिहाद की नई परिभाषा गढ़ी अठारहवीं शताब्दी में मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब ने, जिसके नाम से इस्लाम ने एक नया मोड़ लिया, जिसमें जिहाद अपने विकृत रूप में सामने आया। नज्त में जन्मे इसी मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब (1703-1792) से चलने वाला सिलसिला आज वहाबी इस्लाम कहलाता है, जो सारी दुनिया को आग और खून में डुबो देना चाहता है।

मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब के आने से बहुत पहले सूफी सिलसिला मोहब्बत का पैगाम देने और इंसानों को इंसानों से जोड़ने के लिए आ चुका था। इसका प्रसार बहुत तेजी से तुर्की, ईरान, अरब और दक्षिण एशिया में हो चुका था। सूफी सिलसिले से जो कर्मकांड जुड़ गए वह अलग मसला है, मगर हकीकत है कि सूफी सिलसिले ने इस्लाम को बिल्कुल नया आयाम दे दिया और वह संकीर्णता की जंजीरें तोड़ता हुआ इस्लाम की हदें भी पार कर गया।

सल्तनत-ए-उस्मानिया से लेकर फ़ारस और अरब तक सूफी सिलसिलों ने जो दो बेहद महत्वपूर्ण काम अंजाम दिए वे थे गुलाम रखने की परंपरा खत्म करना और स्त्री मुक्ति का द्वार खोलना।

तेरहवीं सदी में फ़ारस में मौलाना रूमी के अनुयायियों ने मेवलेविया सिलसिले में तेरहवीं सदी में औरतों के लिए दरवाजे न सिर्फ खोल दिये बल्कि उनको बराबर का दर्जा दिया। इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि सूफ़ियों के संगीतमय वज्दाना नृत्य (सेमा) में पुरुषों और महिलाओं की बराबर की हिस्सेदारी होने लगी। मौलाना रूमी की मुख्य शिष्या फ़ख्ररून्निशां थीं। उनका रुतबा इतना था कि उनके मरने के 700 साल बाद मेवलेविया सिलसिले के उस समय के प्रमुख शेख सुलेमान ने अपनी निगरानी में उनका मकबरा बनवाया।

महान सूफी शेख इब्न-अल-अरबी (1165-1240) खुद सूफी खातून फातिमा बिनत-ए-इब्न-अल-मुथन्ना के शागिर्द थे। शेख इब्न-अल-अरबी ने खुद अपने हाथों से फातिमा बिनत-ए-इब्न-अल-मुथन्ना के लिए झोपड़ी तैयार की थी, जिसमें उन्होंने ज़िंदगी बसर की और वहीं दम तोड़ा।

मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब ने एक-एक कर इस्लाम में विकसित होती

खुबसूरत और प्रगतिशील परंपराओं को ध्वस्त करना शुरू किया और उसे इतना संकीर्ण रूप दे दिया कि उसमें किसी तरह की आजादी, खुलेपन, सहिष्णुता और आपसी मेलजोल की गुंजाइश ही न रहे। कुरान और हदीस से बाहर जो भी है उसको नेस्तनाबूद करने का बीड़ा उसने उठाया। अब तक का इस्लाम कई शाखाओं में बंट चुका था। अहमदिया समुदाय अब्दुल-वहाब के काफी बाद 19वीं सदी में आया लेकिन शिया, हनफी, मुलायिकी, सफई, जाफरिया, बाकरिया, बशरिया, खुलाफिया हंबली, जाहिरी, अशरी, मुन्तजिली, मुर्जिया, मतरुदी, इस्माइली, बोहरा जैसी अनेक आस्थाओं ने इस्लाम के अंदर रहते हुए अपनी अलग पहचान बना ली थी और उनकी पहचान को इस्लामी दायरे में स्वीकृति बाकायदा बनी हुई थी।

इनके अलावा सूफी मत तो दुनिया भर में फैल ही चुका था और अधिकतर पहचानें सूफी मत से रिश्ता भी बनाए हुए थीं। लेकिन मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब की आमद और प्रभाव ने इन सभी पहचानों पर तलवार उठा ली। 'मुख्तसर सीरत-उल-रसूल' नाम से अपनी किताब में खुद मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब ने लिखा 'जो किसी कब्र, मजार के सामने इबादत करे या अल्लाह के अलावा किसी और से रिश्ता रखे वह मुशरिक (एकेश्वरवाद विरोधी) है और हर मुशरिक का खून बहाना और उसकी संपत्ति हड़पना हलाल और जायज़ है।'

यहीं से शुरू हुआ मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब का असली जिहाद, जिसने 600 लोगों की एक सेना तैयार की और हर तरफ घोंघे दौड़ा दिए। तमाम तरह की इस्लामी आस्थाओं के लोगों को उसने मौत के घाट उतारना शुरू किया। सिर्फ और सिर्फ अपनी विचारधारा का प्रचार करता रहा और जिसने उसे मानने से इनकार किया उसे मौत मिली और उसकी संपत्ति लूटी गई। मशहूर इस्लामी विचारक जैद इब्न अल-खत्ताब के मक़बरे पर उसने निजी तौर पर हमला किया और खुद उसे गिराया। मजारों और सूफी सिलसिले पर हमले का एक नया अध्याय शुरू हुआ। इसी दौरान उसने मोहम्मद इब्ने सांद के साथ समझौता किया। मोहम्मद इब्ने सांद दरिया का शासक था और धन और सेना दोनों उसके पास थे। दोनों ने मिलकर तलवारों के साथ-साथ आधुनिक असलहों का भी इस्तेमाल शुरू किया। इन दोनों के समझौते से दूरदराज के इलाकों में पहुंच कर अपनी विचारधारा को थोपना और खुलेआम अन्य आस्थाओं को तबाह करना आसान हो गया। अन्य आस्थाओं से जुड़ी तमाम किताबों को जलाना मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब का शौक-सा बन गया। इसके साथ ही उसने एक और घिनौना हुक्म जारी किया और वह यह था कि जितनी सूफी मजारें, मक़बरे या कब्रें हैं उन्हें तोड़ कर

वहीं मूत्रालय बनाए जाएं।

सऊदी अरब जो कि घोषित रूप से वहाबी आस्था पर आधारित राष्ट्र है, उसने मोहम्मद इब्न-अब्दुल-वहाब की परंपरा को जारी रखा। बात यहां तक पहुंच गई कि 1952 में बुतपरस्ती का नाम देकर उस पूरी कब्रगाह को समतल बना दिया गया जहां मोहम्मद के पूरे खानदान और साथियों को दफन किया गया था। ऐसा इसलिए किया गया कि लोग ज़ियारत के लिए इन कब्रगाहों पर जाकर मोहम्मद और उनके परिवार को याद करते थे। अक्टूबर 1996 में काबा के एक हिस्से अलमुकर्रमा को भी इन्हीं कारणों से गिराया गया। काबा के दरवाजे से पूर्व स्थित अल-मुल्ताजम जो कि काबा का यमनी हिस्सा है, उसके खूबसूरत पत्थरों को तोड़ कर वहां प्लाइवुड लगा दिया गया, जिससे कि लोग पत्थरों को चूमें नहीं, क्योंकि ऐसा करने पर वहाबी इस्लाम के नजदीक यह मूर्तिपूजा हो जाती है। अभी हाल में 'द इंडिपेंडेंट' की एक रिपोर्ट के अनुसार मक्का के पीछे के हिस्से में जिन खंभों पर मोहम्मद की ज़िंदगी के महत्वपूर्ण हिस्सों को पत्थरों पर नक्काशी करके दर्ज किया गया था, उन खंभों को भी गिरा दिया गया। इन खंभों पर की गई नक्काशी में एक जगह अरबी में यह भी दर्ज था कि मोहम्मद किस तरह से मेराज (इस्लामी मान्यता के अनुसार मुहम्मद का खुदा से मिलने जाना) पर गए।

वहाबियत इस्लाम के पूरे इतिहास, मान्यताओं, परस्पर सौहार्द और पहचानों के सह-अस्तित्व के साथ खिलवाड़ करता आया है। एक ही पहचान, एक ही तरह के लोग, एक जैसी किताब और नस्ली शुद्धता का नारा हिटलर ने तो बहुत बाद में दिया, इसकी बुनियाद तो वहाबियत ने 19वीं शताब्दी में ही इस्लाम के अंदर रख दी थी।

अरब से लेकर दक्षिण एशिया तक वहाबियत ने अपनी इस शुद्धता का तांडव बहुत पहले से दिखाना शुरू कर दिया था, लेकिन पिछले कुछ दशकों में इसने अपना घिनौना और क्रूर रूप और भी साफ कर दिया। जहां एक तरफ मेवलेविया सिलसिले ने तेरहवीं सदी में औरतों के लिए सिलसिले के दरवाजे न सिर्फ खोले बल्कि उनको बराबर का दर्जा दिया था, वहीं दूसरी तरफ वहाबी इस्लाम ने औरतों को ज़िंदा दफन करना शुरू कर दिया। बेपर्दगी के नाम पर औरतों के चेहरों के हिस्से बदनूमा करने और औरतों पर व्यभिचार का इल्जाम लगा कर उन पर संगसारी करके मार देने को इस्लामी रवायत बना दिया गया। वहाबियत पर विश्वास न रखने वाले मुसलमानों को इस्लाम के दायरे से खारिज करके उन्हें सरैआम क्रतल करना जायज़ और हलाल बताया जाने लगा। यह मात्र इस्लाम के अनुयायियों के साथ सलूक की बात है। अन्य धर्मों पर कुफ्र का

इल्जाम लगा कर उन्हें खत्म करना, संपत्ति लूटना, उनकी औरतों को जबर्दस्ती वहाबियत पर धर्मांतरण करवाना इनके लिए एक आम बात बन चुकी है।

वहाबियत या वहाबी इस्लाम लगातार पूरी दुनिया के लिए खतरा बनता जा रहा है। मौत के इन सौदागरों की करतूत को आमतौर पर इस्लामी आतंकवाद का नाम दिया जाता है, जिसकी साजिश वाशिंगटन और लंदन में रची जाती है और कार्यनीति सऊदी अरब से लेकर दक्षिण एशिया तक तैयार की जाती है। अल-क्रायदा, तालिबान, सिपाह-ए-सहबा, जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन, जैश-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-तैयबा जैसे संगठन इस साजिश को अंजाम देकर लगातार खूनी खेल, खेल रहे हैं।

दक्षिण एशिया में वहाबी इस्लाम की जड़ों को मजबूत करने का काम मौलाना मौदूदी ने अंजाम दिया। हकूमत-ए-इलाहिया इसी साजिश का हिस्सा है जिसके तहत ग़ैर-वहाबी आस्थाओं को, चाहे वह इस्लाम के अंदर की आस्थाएं हों या ग़ैर-इस्लामी, जड़ से उखाड़ फेंकने और उनकी जगह एक ऐसा निज़ाम खड़ा करने की योजना है जिसमें हिटलर जैसा वहाबी परचम लहराया जा सके। किससे छिपा है कि सऊदी अरब का हर कदम अमरीका की जानकारी में उठता है। क्या अमरीका को इसका इल्म नहीं कि सऊदी अरब अपने देश से लेकर पाकिस्तान और बांग्लादेश तक इन संगठनों की तमाम तरह से मदद कर रहा है और इसकी छाया हिंदुस्तान पर भी मंडरा रही है।

आज की वहाबी आस्था के पास केवल तलवार और राइफलों नहीं हैं बल्कि इनके हाथों बेहद खतरनाक आधुनिकतम हथियार लग चुके हैं। इनकी नज़रें पाकिस्तान में मौजूद परमाणु हथियारों पर भी हैं। आस्था जब पागलपन बन जाए तो वह तमाम हदें पार कर सकती है। जो लोग ईद के दिन मस्जिदों में घुसकर लाशों के अंबार लगा सकते हैं वे मौका मिलने पर क्या कुछ नहीं कर गुज़र सकते। वहाबियत का खतरा इस संदर्भ में देखा जाना चाहिए। इस खतरे की चपेट में हर वह शख्स है जो इस दरिंदगी के खिलाफ़ खड़ा है।

‘जनसत्ता’ (9 सितम्बर 2013) में प्रकाशित।

अमन की राह के कांटे

सरदार जाफरी ने लिखा था—‘यह एशिया की ज़मीं तमहुन की कोख तहज़ीब का वतन है।’

इसी ज़मीन पर आबाद है एक मुल्क। दक्षिण एशिया की सभ्यता और संस्कृति के फलने-फूलने और हैरतअंगेज़ बुलंदी हासिल करने का सबूत देता ज़मीन का एक हिस्सा है जिसे हड़प्पा और मोहनजोदड़ो ने संवारा। तक्षशिला ने इल्म की बारिश की। मोहब्बत के रंग में सराबोर किया नानक, बाबा फरीद, बाबा बुल्लेशाह और वारिसशाह जैसे अज़ीम नामों ने। आज वही ज़मीन नापाक बारूद की बारिश में नहा रही है। ज़मीन का यह हिस्सा पाकिस्तान के नाम से जाना जाता है।

इस समय जब मोहब्बत की खुशबू बिखरेने वाले बाबा फरीद का 771वां उर्स पाक पट्टन, पंजाब प्रांत (पाकिस्तान) में चल रहा है, हज़ारों बंदूकें उर्स की हिफाजत में लगी हैं। सिर्फ़ विडंबना कहना हालात के साथ शायद इंसाफ़ न हो। यह जश्न हर साल 15 दिन चलता है। संभव नहीं लगता कि इस महाद्वीप में कोई और ऐसा नाम हो जिसके नाम पर इतने लंबे अरसे तक मुसलसल कोई सालाना जश्न चलता आया हो जिसमें हर संप्रदाय के लाखों लोग शिरकत करते हों। यह वही बाबा फरीद हैं जिनकी मज़ार अक्तूबर 2010 में तालिबान का निशाना बनी थी। क्या मिला था इस ज़मीन को विरसे में? और क्या बन गई यह ज़मीन? एक तरफ़ मोहब्बत का पैगाम देने वाले का जश्न तो दूसरी तरफ़ तालिबानी वहशियों का तांडव और सियासत का रंग कुछ यों कि मोहब्बत का पैगाम देने वाले के पास न जाकर हर सियासतदां खुश करना चाहता हो तालिबान को।

हाल में हुए चुनाव के दौरान तहरीक-ए-इंसाफ़ के मुखिया जो अपनी अंग्रेज़ियत के लिए ज़्यादा जाने जाते हैं, उन्होंने तालिबान को पाकिस्तान की

जरूरत बताया था। इमरान खान, जो ऑक्सफोर्ड में पढ़े, जिंदगी भर क्रिकेट खेला, अंग्रेज महिला से शादी की, मगर सियासत में आए तो तालिबान की गोद याद आई। इसी एक नवंबर को, हकीमुल्लाह महसूद के मारे जाने पर इमरान खान ने जहां एक तरफ जायज़ बात कही कि अमरीका पाकिस्तान के अंदरूनी मामलों में हस्तक्षेप बंद करे, वहीं दूसरी तरफ तालिबान से शांति-वार्ता की बात कहना नहीं भूले। एक लफ़्ज भी तालिबान के खिलाफ़ नहीं बोला। इमरान खान का उदाहरण इसलिए कि उनको पाकिस्तान की लीगी परंपरा से हट कर सेक्युलर चेहरे के रूप में देखा गया। यहां यह जिक्र जरूरी है कि पाकिस्तान में तालिबानी गतिविधियां खैबर पख़ूनख्वा प्रांत में हमेशा से जोरों से चली और यहां सरकार है इमरान खान की पार्टी पाकिस्तान तहरीक-ए-इंसाफ़ की और मुख्यमंत्री हैं परवेज़ खट्टक, जो तालिबानों से ज़रा भी परहेज़ नहीं रखते।

इमरान का इसी समय का मौलाना फजलुर-रहमान को लेकर एक बयान और नवाज़ शरीफ़ की मौलाना फजलुर-रहमान से मुलाकात और सरकार में शामिल होने के लिए मौलाना से मिन्नतें करना पाकिस्तान की सियासत के तालिबानीकरण का एक नमूना है। मौलाना फजलुर-रहमान 'जमात-ए-उलेमा इस्लाम' पाकिस्तान के मुखिया हैं और पाकिस्तान में शरीया कानून नाफिज किए जाने के सबसे बड़े ग़ैर-बंदूकधारी वकील हैं जिनको कभी तालिबान नुकसान नहीं पहुंचा सकते, क्योंकि तालिबान के राजनीतिक एजेंडे की पैरवी यही संगठन करता है। किसी से छिपा नहीं है कि 'जमात-ए-उलेमा इस्लाम' देवबंदी वहाबी संगठन है और तालिबान की मुखालफत इसके सरोकार में नहीं है। पाकिस्तान की सियासत के तालिबानीकरण का जिक्र भी इसी संदर्भ में है।

अफ़ग़ानिस्तान के राष्ट्रपति ने फजलुर-रहमान को निमंत्रण देकर काबुल बुलाया। काबुल से लौटने के बाद मौलाना फजलुर-रहमान ने 14 अक्तूबर, 2013 को 'द इंटरनेशनल न्यूज़' पाकिस्तान को बताया कि 'जिहाद में दी गई कुर्बानियों के बाद भी पाकिस्तान की अफ़ग़ानिस्तान पर पकड़ मजबूत नहीं हुई। तालिबान सरकार के गिरने के बाद अफ़ग़ानिस्तान में भारत की पकड़ मजबूत हो गई। हमारी पार्टी इस हक में है कि तालिबान से अमरीका बात करे।' हामिद करज़ई से मौलाना फजलुर-रहमान ने सारे पाकिस्तानी कैदियों की रिहाई की शर्त भी मनवा ली, जिसका जिक्र इसी भेंटवार्ता में किया गया। इन कैदियों में कितने पाकिस्तानी तालिबान होंगे इसका अंदाजा लगाना कोई मुश्किल नहीं। ख़ूनी खेल को जिहाद बताना और उसमें कुर्बानी का जिक्र करना इस व्यक्ति की मानसिकता का सबूत है। इसी व्यक्ति को सरकार में शामिल करने की नवाज़ शरीफ़ की कोशिश और

इमरान खान का यह कहना कि वे मौलाना फजलुर-रहमान से समझौता करने को तैयार हैं, पाकिस्तान की सियासत के तालिबानीकरण का उदाहरण है।

एक नज़र ज़रा उन पर, जिनकी वकालत 'उलेमा' की जमात के मुखिया कर रहे हैं। मौलाना जिहाद की कुर्बानी पर आंसू बहा रहे हैं और अफ़ग़ानिस्तान में तालिबानी सरकार गिरने से दुखी हैं। तहरीक-ए-तालिबान, पाकिस्तान के आलिमों पर नज़र डालें। अभी एक नवंबर को मारा गया तालिबानी मुखिया हकीमुल्लाह मसहूद ख़ैबर पख़्तूनख़्वा प्रांत में हंगू शहर के एक छोटे-से गांव के मदरसे में बुनियादी तालीम तक हासिल न कर सका और मदरसा छोड़ गया। 'वहाबी इस्लाम' ने अपनी हिफ़ाज़त की जिम्मेदारी इस 'आलिम' के हाथ में दे दी। हजारों क्रल्ल में शामिल यह आतंकी किस इस्लाम की जंग लड़ रहा था? जिसकी तालीम भी नहीं ली थी उस इस्लाम की? किसने उसके ज़ेहन में 'जिहाद का ऐसा जहर घोला कि वह क्रल्ल करता रहा और उसको पता भी नहीं कि जिस अल्लाह के नाम पर ख़ून बहा रहा है उसने कहा क्या है? उसके मारे जाने के बाद उसका जानशीन तहरीक-तालिबान की शूरा (कौंसिल) द्वारा चुना गया। एक और मसहूद। खान सय्यद मसहूद उर्फ़ सजना।

किससे छिपा है यह राज़ कि तालिबान की शूरा की बागडोर अल-क्रायदा के हाथ में है और कोई भी फैसला बिना अल-क्रायदा की मर्ज़ी के नहीं होता। जाहिर है इसमें सऊदी अरब की भी मर्ज़ी शामिल होती है। 2 नवंबर को ज़रार ख़ुहरो ने कराची से प्रकाशित अख़बार 'द डॉन' में लिखा कि इस बात की पूरी आशंका है कि अब तालिबान और अल-क्रायदा एक दूसरे को और ज़्यादा सहयोग देंगे। उज़्बेकिस्तान से लेकर चेचेन्या तक फैले आतंकियों से मिल कर काम करेंगे।'

यह खान सय्यद मसहूद उर्फ़ सजना किस इस्लाम के माहिर हैं? कितने आलिम हैं? ज़रार ख़ुहरो के मुताबिक़ खान सय्यद मसहूद उर्फ़ सजना हकीमुल्लाह मसहूद से ज़्यादा खूबखार आतंकी है। इस 'आलिम' ने ज़िंदगी में जो इल्म हासिल किया वह सिर्फ़ जंगी तालीम है। स्कूली या मज़हबी शिक्षा इसने कभी नहीं ली। वैसे अजमल कसाब कितना शिक्षित था? कोई तो वजह होगी कि सारे अशिक्षित असलहों का प्रशिक्षण पाकर जिहादी बनते हैं और क्रल्ल-ओ-ख़ून की जिम्मेदारी ले लेते हैं या उन्हें दे दी जाती है और 'नूरानी चेहरे वाले' 'उलेमा' दर्जनों हज़ किए और पंचवक्ता नमाज़ी इनको 'इस्लाम' का मुहाफिज़ तैनात करते हैं और इन्हीं 'आलिमों' से शांति-वार्ता की बात पाकिस्तान सरकार और इमरान खान जैसे लोग करते हैं।

गौरतलब है कि शांति-वार्ता में इन हत्यारों की शर्तें क्या होंगी और इनको शर्तें कौन तैयार करके देगा? पाकिस्तान को वहाबी राष्ट्र बनाओ? शरीया कानून सऊदी अरब की तर्ज पर लागू करो? ईशनिंदा कानून और सख्त बनाओ? वहाबियों के अलावा तमाम मुसलमानों को कानूनन इस्लामी दायरे से खारिज करो? उखाड़ फेंको बाबा फरीद, बाबा बुल्लेशाह और वारिस शाह की मजारों को? 'उलेमा' भी यही चाहते हैं। फौरन हां कर देंगे। सरकार में शामिल करने की दावत है ही। सरकार के अंदर से दबाव बनेगा।

शांति-वार्ता के लिए तरह-तरह के हथकंडे अपनाए गए। 'गुड' तालिबान और 'बैड' तालिबान जैसे कुटिल सिद्धांत इन्हीं हथकंडों की उपज है। आज तक 'अच्छे' तालिबान जैसा सिद्धांत किसी समझदार इंसान की समझ में नहीं आया। आखिर तालिबान का काम है जिहाद का नारा देकर इंसानी खून बहाना। कौन-सा ऐसा तालिबान है जो खून का प्यासा न हो और उसे 'अच्छे' तालिबान की श्रेणी में रखा जा सके! मगर कुछ परदे तो चाहिए गुनाह ढंक्ने के लिए और 'गुड' तालिबान का परदा अमरीका और पाकिस्तान दोनों ने अपनाया। अनगिनत बार शांति की बात हुई। जिनका काम ही जिहाद के नाम पर इंसानी खून बहाना है वे किस तरह की शांति के लिए वार्ता कर सकते हैं। और पाकिस्तान के सियासी हलकों में तालिबान से लड़ने की कोई इच्छाशक्ति भी नज़र नहीं आती। नवाज़ शरीफ़ की तो पनाहगाह वही रही जहां से तालिबान को शुरू से ही आर्थिक और राजनीतिक समर्थन मिलता रहा है। लिहाजा, वे मौलाना फज़लुर-रहमान, जमात-ए-उलेमा इस्लाम-पाकिस्तान को सरकार में शामिल होने की दावत देते हैं जिससे साफ पता चलता है कि पाकिस्तान सरकार की तालिबान से लड़ने की कोई इच्छाशक्ति नहीं है।

पख़ूनख्वा प्रांत में इमरान खान की पार्टी पाकिस्तान तहरीक-ए-इंसाफ सत्ता में है और उसे सत्ता में बने रहने के लिए ज़रूरी है कि तालिबान से दुश्मनी मोल न ली जाए। नतीजे के तौर पर इमरान खान ने आज तक तालिबान के विरुद्ध कोई वक्तव्य जारी नहीं किया, बल्कि तालिबान को पाकिस्तान की ज़रूरत बताया। पाकिस्तान का अवाम हर बड़े तालिबानी के मारे जाने पर इत्मीनान जाहिर करता है कि शायद अब खूनी खेल का खात्मा हो। लेकिन एक के बाद दूसरा तालिबानी नेता और खूंखार निकलता है।

अल-ज़रकावी के 2006 में मारे जाने के बाद खुशी का इज़हार किया गया था, लेकिन उसके बाद बैतुल्लाह मसहूद ने खूनी जंग जारी रखी और एक के बाद एक आने वाला हर तालिबानी नेता पहले से और भी अधिक खूंखार

निकला। अब तालिबान की नई पैदावार में हर कमांडर अशिक्षित होता है जिसे आसानी से वहशी बनाया जा सकता है। जिहाद का जहर उसकी नसों में घोल कर और जन्नत के ख्वाब दिखा कर हज़ारों-लाखों क्रल्ल करवाए जा सकते हैं। यह सब कुछ देखते हुए तालिबान के साथ बातचीत करके शांति का रास्ता तलाशना सिर्फ एक छलावा है।

ज़रूरत है उस विचारधारा को कुचलने की, जो न सिर्फ इंसानी खून बहाती है, बल्कि सदियों से इंसानियत के मुहाफिज़ जो उसी ज़मीन पर कब्रों में सो रहे हैं, उनको भी बंदूक का निशाना बनाती है। आज बाबा फरीद की मज़ार पर लाखों लोगों का हुजूम है, सब उनके अकीदतमंद। मज़ार का 'बहिश्ती दरवाज़ा' खुलेगा उर्स के दौरान और उस दरवाजे पर पाकिस्तान सरकार के बंदूकधारी हिफ़ाज़त के लिए खड़े होंगे। एक सूफ़ी के लिए यह कितना दर्दनाक तोहफ़ा है।

'जनसत्ता' (11 नवम्बर, 2013) में प्रकाशित।

इमदाद में मिले इमाम

पाकिस्तान के वर्तमान प्रधानमंत्री नवाज़ शरीफ़ ने दिसंबर 2000 से अगस्त 2007 तक सऊदी अरब में शरण ली थी। उनकी याचिका पर सुनवाई के दौरान 17 अक्तूबर, 2007 को वहां की सुप्रीम कोर्ट ने कहा था कि 'राष्ट्रपति से माफी और फिर जेल से रिहाई के बाद पूर्व प्रधानमंत्री का सऊदी अरब में पनाह लेना जबरन देश निकाला नहीं कहा जा सकता।' यानी नवाज़ शरीफ़ ने अपनी मर्जी से सात साल सऊदी अरब में बिताए। इस दौरान उन्होंने सऊदी अरब के राष्ट्रीय संरक्षण में ऐश की जिंदगी गुजारी और सऊदी हुक्मरानों के साथ पाकिस्तान और सऊदी के संबंधों पर अनेक बार विचार-विमर्श किया। शायद सऊदी अरब को पता था कि नवाज़ शरीफ़ पाकिस्तान की सत्ता ज़रूर संभालेंगे। वही हुआ भी।

तीन दिन पहले यानी 21 अगस्त को कराची से 'डॉन' अख़बार ने खबर दी कि सऊदी अरब की यात्रा पर गए पाकिस्तान के धार्मिक एवं अंतर्धार्मिक सद्दाव के मामलों के मंत्री सरदार मोहम्मद युसुफ़ से सऊदी अरब मस्जिद-उल-हरम मक्का और मस्जिद-ए-नबवी मदीना के अध्यक्ष अब्दुर्रहमान ने वादा किया कि इन दोनों मस्जिदों से हर साल पाकिस्तान को इमाम भेजे जाएंगे। अब्दुर्रहमान ने कहा कि यह कदम दोनों देशों के बीच दोस्ताना ताल्लुकात मज़बूत बनाने के इरादे से उठाया जा रहा है!

नवाज़ शरीफ़ सरकार का सऊदी अरब से पाकिस्तान में इमाम लाने का मकसद क्या है? गौरतलब है कि पिछले दिनों सऊदी अरब में तीस हज़ार इमामों को 'नौकरी' से बर्खास्त कर दिया गया। ये सभी इमाम आतंकवादी गतिविधियों में शामिल थे। खुद सऊदी सरकार ने इन्हें नौकरी से निकालने की यही वजह बताई थी। अब ये सारे इमाम अब्दुर्रहमान के साए में पनाह लिए हुए हैं, सऊदी अरब की पूरी इजाज़त के साथ। इमामों के मामले में सरकारों के नहीं, बल्कि मंत्री और मस्जिद-उल-हरम मक्का और मस्जिद-ए-नबवी मदीना के अध्यक्ष के

बीच यह समझौता हुआ।

विकिलीक्स पर यकीन किया जाए तो 2005 में पाकिस्तान के पंजाब सूबे में सऊदी अरब के पैसे से तालिबानों की नियुक्ति हुई थी। नवंबर 2008 में उस समय लाहौर में नियुक्त अमरीकी स्टेट डिपार्टमेंट के प्रमुख अधिकारी ब्रायन हंट ने स्थानीय धार्मिक और राजनीतिक नेताओं और नागरिक समाज से बातचीत की। उनको सूचना मिली थी कि देवबंदी और अहल-ए-हदीस (वहाबी) मुल्तान, पेशावर और डेरा गाजी खान के गांवों में उग्रवादी मदरसे खोले जा रहे हैं और यहां बच्चों के दिमागों में जिहादी बनने का ज़हर घोला जाता है। फिर उन्हें एफएटीए (फेडरली एडमिनिस्टर्ड ट्राइबल एरियाज) में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। इन्हीं को आत्मघाती दस्ते में शामिल किया जाता है। इसके लिए सऊदी अरब से आने वाला पैसा देवबंदी वहाबी संगठनों—जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन और जैश-ए-मोहम्मद को मिलता है। अरब प्रायोजित संगठन देवबंदी (अहल-ए-हदीस) धार्मिक नेताओं और आम लोगों के बीच संपर्क सूत्र का काम करते हैं। विकिलीक्स के अनुसार 'हर जिहादी शहीद बेटे के परिवार को साढ़े छह हजार अमरीकी डॉलर दिये जाते रहे हैं।'

'द इन्वॉल्वमेंट ऑफ सलफिज़्म/वहाबिज़्म इन द सपोर्ट ऐंड सप्लाई ऑफ आर्म्स टु रिबेल गुप्स अराउंड द वर्ल्ड' नामक यूरोपीय संघ द्वारा प्रकाशित दस्तावेज (जून 2013) के अनुसार सऊदी अरब से हर साल दस अरब अमरीकी डॉलर 'अनुदान' के रूप में दिया जा रहा है, जिसका इस्तेमाल आतंकी गतिविधियों के लिए हो रहा है। यह अनुदान देवबंदी वहाबी संगठनों जमात-उद-दावा, अल-खिदमत फाउंडेशन और जैश-ए-मोहम्मद को मिलता है।

ज़रा पीछे मुड़कर देखें तो सऊदी अरब और अमरीका की मंशा स्पष्ट हो जाएगी। साथ ही आतंकवाद की जड़ें भी नज़र आएंगी। 1978 में जिया उल-हक सत्ता में आए। उन्होंने सबसे पहला काम किया सऊदी अरब के साथ संबंध बढ़ाने का। अमरीकी डॉलर के साथ पेट्रो डॉलर की भी दरकार थी। उन्होंने लायलपुर का नाम फैसलाबाद रखा, किंग फैसल के नाम पर। किंग फैसल की मौत 1975 में हुई थी। इसके बाद फौरन बहुत बड़ी रकम पाकिस्तान आई।

सन् 1979 में दो बड़ी घटनाएं हुईं। सोवियत फौजें अफ़ग़ानिस्तान में घुसीं और ईरान में खुमैनी ने सत्ता संभाली। यह अमरीका और सऊदी अरब दोनों के लिए ख़तरनाक था। ईरान शिया बहुल देश और खुमैनी शिया नेता थे। सारे कानून शिया धर्मशास्त्र के अनुसार लागू हुए। गौरतलब है कि ईरान की ज़बान फ़ारसी है और सऊदी अरब की अरबी। जिया को साबित करना था कि वे घोर ईरान

विरोधी हैं। पाकिस्तान में फटाफट बहुत सारे ऐसे काम हुए, जिनसे सऊदी अरब और अमरीका खुश हों। इस हद तक कि खुदा हाफ़िज़ की जगह अल्लाह हाफ़िज़ बोला जाने लगा। खुदा फ़ारसी लफ़्ज़ है, जबकि सऊदी अरब की ज़बान अरबी है। अल्लाह अरबी लफ़्ज़ है। सो, ज़ियाउल-हक़ ने मीडिया को निर्देश दिया कि खुदा की जगह अल्लाह का इस्तेमाल करें। पहली बार पाकिस्तान रेडियो पर 1979 में 'अल्लाह हाफ़िज़' सुना गया। हर धर्म को मान्य 'खुदा हाफ़िज़' न केवल पाकिस्तान, बल्कि पूरे दक्षिण एशिया से लुप्त होने लगा।

इसके साथ ही शुरुआत हुई पाकिस्तान के अचानक इस्लाम से सुन्नी इस्लाम की तरफ बढ़ने की और सुन्नी में भी वहाबी (अहल-ए-हदीस) रंग देने की। अहमदिया, बोहरा, कादियानी और ज़रा बाद में शिया समुदायों को इस्लामी दायरे से हटाने की मुहिम भी शुरू हो गई। यह सिलसिला अब तक जारी है।

12 जनवरी, 2013 से लेकर फरवरी 2013 तक क्रेटा, पेशावर और खैबर पख्तूनख्वा में, तहरीक-ए-तालिबान पाकिस्तान और सिपाह-ए-सहबा जैसे संगठनों ने शिया समुदाय के लगभग 250 लोगों का क़त्ल किया। क्रेटा में 12 जनवरी, 2013 को हुए शिया समुदाय के जनसंहार के लिए 'डॉन' ने सऊदी अरब समर्थित अहल-ए-हदीस को ज़िम्मेदार ठहराया। कौमी मुत्तहदा मूवमेंट द्वारा गठित 23 सदस्यीय राबिता कमेटी ने 23 मई को अपने बयान में लगभग यही बात कही।

तत्कालीन प्रधानमंत्री राजा परवेज़ अशरफ़ ने इन संगठनों को ज़िम्मेदार ठहराया, मगर किसी संगठन पर न तो छापे मारने के आदेश दिये न कौमी मुत्तहदा मूवमेंट के इस सवाल का जवाब दिया कि इन संगठनों को कहां से और कैसे पैसा आता है। पाकिस्तानी सेना और आईएसआई ने इस मुद्दे पर एकदम चुप्पी साध ली। जाहिर है कि सेना और आईएसआई के इन आतंकी संगठनों के साथ गहरे संबंध हैं और ये एक-दूसरे का बखूबी इस्तेमाल करते आए हैं।

इस सिलसिले की एक महत्वपूर्ण कड़ी है हाफ़िज़ सईद, जो ज़ियाउल हक़ के समय से लेकर अब तक पाकिस्तान में वहाबी आंदोलन, आतंकवाद और सऊदी अरब की इन गतिविधियों में हिस्सेदार है और 'अनुदान' लाने का मुख्य ज़रिया बना हुआ है। सिलसिला तब शुरू हुआ जब ज़ियाउल हक़ ने हाफ़िज़ सईद को 1981 में उच्च शिक्षा के लिए सऊदी अरब भेजा। वहां से लौट कर वह वहाबी विचारधारा और मिलिटेंट इस्लाम का प्रचारक बना और 1990 में उसने जमात-उद-दावा और लश्कर-ए-तैयबा की नींव डाली।

विकिलीक्स के अनुसार मुंबई के रेल बम विस्फोट मामले में 17 अक्टूबर, 2006 को लाहौर उच्च न्यायालय के आदेश पर रिहा होने के बाद

हाफ़िज़ सईद ने सऊदी की यात्रा की। नवाज़ शरीफ़ तब सऊदी अरब में ही थे। उस दौरान हाफ़िज़ सईद ने नवाज़ शरीफ़ और अब्दुर्रहमान से मुलाकात की। विकिलीक्स की उसी खबर के अनुसार सऊदी अरब और संयुक्त अरब अमीरात से आतंकी गतिविधियों के लिए आने वाला 'अनुदान' हाफ़िज़ सईद के जरिये आता है, जिसमें आईएसआई की बड़ी भूमिका रहती है और यह सरकार की नज़रों से भी नहीं छिपा है।

पाकिस्तानी सरकार और उससे जुड़ी संस्थाओं का रवैया भी गौरतलब है। अभी तक पाकिस्तानी सरकार, सेना, पुलिस और आईएसआई ने आतंकवाद के खिलाफ़ जितनी भी कार्रवाइयां की हैं, वे सब तालिबानी संगठन के विरोध में हैं। तालिबान का मुख्य कार्यक्षेत्र अफ़ग़ानिस्तान और उत्तर-पश्चिम सीमा का ख़ैबर और पख़्तून इलाका है।

बलूचिस्तान, पंजाब और सिंध में जितनी आतंकी घटनाएं और खून-खराबा हुआ है, उसमें तालिबानी नहीं, जमात-उद-दावा, अल-ख़िदमत फाउंडेशन, जैश-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-तैयबा जैसे संगठन सक्रिय रहे हैं। इन तमाम संगठनों के दफ़तर किसी ढंकी-छुपी जगह में नहीं। यह सरकार, सेना, पुलिस, आईएसआई की पूरी जानकारी में चल रहे हैं।

मदरसे, जहां दिमागों में जहर भरा जाता है और प्रशिक्षण शिविर, जहां हथियारों का प्रशिक्षण दिया जाता और आत्मघाती दस्ते तैयार होते हैं, सब खुलेआम चल रहे हैं। मगर पूरा पाकिस्तानी प्रशासन-तंत्र चुप रहता है। आतंकवाद के खिलाफ़ कार्रवाई के नाम पर कभी-कभार तालिबान से मुठभेड़ हो जाती है।

सब जानते हैं कि ये संगठन आत्मघाती दस्ते तैयार करने के लिए गरीब और स्कूल छोड़े हुए बच्चों का चुनाव करते हैं। जरा इनके 'इस्लाम' की इंतिहा देखिये! जब कोई आत्मघाती लड़का काम अंजाम देने के लिए तैयार किया जाता है तो उसे बाक्रायदा दूल्हा बनाया जाता है। मां-बाप से कहा जाता है कि उसको खुद सजाएं। उसे पूरे गांव में घुमाया जाता है और उसके मां-बाप को मुबारकबाद दी जाती है कि 'अल्लाह' ने तुम्हारे बेटे को इस्लाम की ख़िदमत के लिए चुना है। जन्नत उसका इंतज़ार कर रही है। उसके बाद बेटे के 'काम' आने पर साढ़े छह हजार अमरीकी डॉलर मां-बाप को दे दिये जाते हैं। यह बर्बरता सारे समाज, पुलिस और प्रशासन की पूरी दानिस्त में अंजाम दी जाती है। आज तक इसके लिए जमाद-उद-दावा, अल-ख़िदमत फाउंडेशन और जैश-ए-मोहम्मद, लश्कर-ए-तैयबा जैसे संगठनों से कोई सवाल नहीं किया गया।

जब ये आदमख़ोर संगठन अल्पसंख्यकों पर जुल्म ढाते हैं तब सरकारी

तंत्र की मूक सहमति और भी धिनौने रूप में नज़र आती है। सरकारी तंत्र कभी उन पर परदा डालता है तो कभी उलटे अल्पसंख्यकों पर इलज़ाम मढ़ देता है। उमरकोट में हिंदू लड़कियों को जबरन इस्लाम स्वीकार कराने की खबरें सुर्खियों में रहीं। यह काम आम मुसलमानों ने नहीं किया था, जैसा कि खबरों में बताया गया था। जैश-ए-मुहम्मद के कारकून पूरे सरकारी संरक्षण में ऐसा कर रहे थे।

ईसाई समुदाय की अपनी एक पाकिस्तानी मित्र के बारे में मैंने कहीं लिखा था। उसका प्यासा भाई एक मस्जिद में पानी पीने चला गया। सज़ा मिली मौत। काम था लश्कर के 'जांबाजों' का। कोई मुकदमा दर्ज़ न हो सका। यानी इन वहाबियों के हाथों पूरे देश में कोई भी सुरक्षित नहीं। इनको सऊदी अरब ऐसे ही कामों के लिए 'अनुदान' देता है। जब सरकार भी वहीं से पैसा ले रही है और ये संगठन भी, तो सरकार कैसे लगाम लगाए इन पर! लगाम तो सऊदी अरब के पास है। उसी ने नवाज़ शरीफ़ को पनाह दी थी। आज वही अपना एजेंडा लेकर नवाज़ शरीफ़ के सामने है। कर्ज़ तो चुकाना होगा।

अरब मस्जिद-उल-हरम मक्का, और मस्जिद-ए-नबवी मदीना से आने वाले इमामों के लिए समझौते को इसी संदर्भ में देखा जाना चाहिए और सऊदी अरब के साथ-साथ नवाज़ शरीफ़ की मंशा पर भी नज़र डालनी चाहिए। जिन इमामों को सऊदी अरब खुद आतंकी गतिविधियां प्रायोजित करने वाला मानता है वही पाकिस्तान लाए जा रहे हैं! क्या पाकिस्तान को वहाबी आंदोलन और आतंकवादी गतिविधियों का अड्डा बना कर ही दम लेना है! क्या नवाज़ शरीफ़ सऊदी अरब के अहसानों का बदला ऐसा चुकाएंगे कि पाकिस्तान की ग़ैर-वहाबी अवाम वहाबियत की आग में झुलस जाए और पूरा दक्षिण एशिया इसकी चपेट में आ जाए!

'जनसत्ता' (24 अगस्त, 2013) में प्रकाशित।

बांग्लादेश के युद्ध अपराधी

बांग्लादेश में युद्ध अपराध न्यायाधिकरण ने जैसे ही दिलावर हुसैन सईदी को सज़ा-ए-मौत सुनाई, जमात-ए-इस्लामी की महासचिव मोती-उर्रहमान निज़ामी ने सज़ा-ए-मौत की सिर से मुखालफत शुरू कर दी।

28 फरवरी को अपने बयान में निज़ामी ने कहा कि जमात-ए-इस्लामी सज़ा-ए-मौत की मुखालफत करती है और दुनिया के कई देशों की तरह बांग्लादेश में भी सज़ा-ए-मौत पर पाबंदी लगनी चाहिए। अजीब रुख अपनाया जमात-ए-इस्लामी ने। दिलावर हुसैन सईदी को सज़ा-ए-मौत न हो इसलिए जमात-ए-इस्लामी ने सज़ा-ए-मौत की ही मुखालफत शुरू कर दी। 17 सितंबर को कादिर मुल्ला को सज़ा-ए-मौत सुनाए जाने के बाद 18 और 19 सितंबर को जमात-ए-इस्लामी के सहयोगी हिफाज़त-ए-इस्लाम और छात्र शिबिर ने सज़ा-ए-मौत के खिलाफ़ ढाका और बांग्लादेश के अन्य शहरों में प्रदर्शन शुरू कर दिए। कौन हैं ये लोग, जिन्हें मौत की सज़ा दी गई?

अविभाजित पाकिस्तान में 1970 में जब पहले लोकतांत्रिक चुनाव हुए तो अवामी लीग को 160 सीटें मिलीं, और दूसरे नंबर पर पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी रही, जिसे कुल 81 सीटें मिलीं। लेकिन पाकिस्तान पीपुल्स पार्टी के नेता जुल्फिकार अली भुट्टो ने अवामी लीग की सरकार न बनने देने की ठान ली। यहिया खान ने शेख मुज़ीबुर्हमान को वार्ता के लिए बुलाया। इसी दौरान मौलाना मौदूदी के नेतृत्व में अलग से चुनाव लड़ी जमात-ए-इस्लामी—जिसे मात्र चार सीटें मिली थीं—यहिया खान से जा मिली। यहिया खान से मौलाना मौदूदी की मुलाकात में दिलावर हुसैन सईदी भी शामिल था जो अवामी लीग का कट्टर विरोधी था और मौलाना मौदूदी का बांग्लादेशी एजेंट भी।

अंततः वार्ता के बजाय शेख मुज़ीबुर्हमान को गिरफ्तार कर लिया गया। इसके तुरंत बाद दिलावर हुसैन सईदी फौरन ढाका वापस आया। मार्च का महीना

आते-आते पूर्वी पाकिस्तान में रोष इतना फैल चुका था कि हर रोज ढाका और अन्य शहरों की सड़कें इंसानी हुजूम में दब जाती थीं। फिर आई 25 मार्च की स्याह रात। ऐसी रात, जिसकी मिसालें दुनिया के इतिहास में बहुत कम दिखाई देती हैं। पाकिस्तानी फौजों ने इसी रात 'सर्च लाइट ऑपरेशन' शुरू किया और एक रात में दस हजार से ज़्यादा लोग मौत के घाट उतार दिए गए। सर्च लाइट ऑपरेशन पाकिस्तानी सेना के अकेले के बस का रोग न था, लिहाजा फौरन जमात-ए-इस्लामी ने अपनी भूमिका निभानी शुरू कर दी। ग़ैर-मुस्लिमों, मुस्लिम बुद्धिजीवियों, छात्रों और युवाओं की पहचान करने में जिस आदमी ने उस रात सबसे बड़ी भूमिका निभाई उसका नाम है दिलावर हुसैन सईदी।

उस समय 30 वर्ष का यह युवक बांग्लादेश में मौलाना मौदूदी की आंख बन कर काम कर रहा था। खून का यह खेल जो ऑपरेशन सर्च लाइट से शुरू हुआ तो 14 दिसंबर, 1971 तक लगातार चलता ही रहा। तीस लाख लोगों ने अपनी जान गंवाई और लगभग तीन लाख औरतें बलात्कार का शिकार हुईं। बांग्लादेश मुक्तिवाहिनी की मुखालफत करने और मौत का तांडव रचने में किसी और का नहीं जमात-ए-इस्लामी का ही हाथ था। तीस लाख लोगों के क्रतल और तीन लाख औरतों के बलात्कार के लिए जिम्मेवार जब फांसी की सज़ा की मुखालफत करें तो इसे हास्यास्पद नहीं तो और क्या कहा जाए!

यह वही जमात-ए-इस्लामी है जिसके शीर्ष नेता मौलाना मौदूदी ने लाहौर में 1953 में अहमदिया मुसलमानों का क्रतलेआम करवाया था और उसे भी मौत की सज़ा हुई थी। लेकिन हमेशा से पाकिस्तान के आका रहे सऊदी अरब के हस्तक्षेप पर मौदूदी की मौत की सज़ा को आजीवन कारावास में बदला गया और फिर वह सज़ा भी रद्द हुई और इसी जमात-ए-इस्लामी ने पूर्वी पाकिस्तान की सड़कों को खून का समंदर बना दिया था। आज ये मानवाधिकार की दुहाई देते हैं! यहां यह उल्लेख करना ज़रूरी है कि जमात-ए-इस्लामी के शीर्षस्थ नेता मौदूदी ने पाकिस्तान समेत दुनिया भर में शरिया कानून नाफ़िज़ करने का सपना देखा था।

अपनी किताब 'जिहाद-ए-इस्लाम' में मौदूदी लिखते हैं "इस्लाम चाहता है कि तमाम ग़ैर-इस्लामी विचारों को कुचल दिया जाए और कुरान की मुखालफत करने वाले लोगों का ज़मीन से सफाया कर दिया जाए।" मतलब इस ज़मीन पर रहने का हक़ मौदूदी और जमात-ए-इस्लामी की नज़र में केवल मुसलमानों को है, वह भी एक ख़ास क्रिस्म के मुसलमानों को। कौन हैं ये मुसलमान, जिन्हें इस ज़मीन पर रहने का हक़ जमात-ए-इस्लामी और

उनकी विचारधारा देती है? अहमदिया का क्रल्लेआम तो खुद मौजूदी ने करवाया। शिया, बोहरा, कादियानी, ये सारे के सारे तो इस्लाम के दायरे से खारिज हो ही चुके हैं, बचे जमाती और वहाबी मुसलमान, जिनको जमात-ए-इस्लामी प्रमाणपत्र देती है कि ज़मीन उनकी है और इस पर रहने का अधिकार भी उन्हीं का है। मौजूदा जमात-ए-इस्लामी (बांग्लादेश) को उपरोक्त संदर्भ में ही देखा जाना चाहिए। 1971 के जमाती-रजाकार आज हिफ़ाजत-ए-इस्लाम के रूप में उभर कर आए हैं।

इनका छात्र मोर्चा, छात्र शिबिर इन्हीं रजाकारों का दायां हाथ है जिसने फरवरी से लेकर आज तक बांग्लादेश को अपनी चपेट में लिया हुआ है। जैसा कि हर धर्मांध आंदोलन करता आया है, बांग्लादेश की जमात-ए-इस्लामी ने अपनी राजनीतिक मज़बूती के लिए बांग्लादेश नेशनलिस्ट पार्टी का दामन पकड़ रखा है। हालांकि 18 और 19 सितंबर को जमात के आम हड़ताल के आवाहन में बांग्लादेश नेशनलिस्ट पार्टी शामिल नहीं हुई लेकिन फरवरी से लेकर अब तक इस पार्टी के कार्यकर्ता जमात की हर हड़ताल में शामिल होते आए हैं।

सत्तारूढ़ अवामी लीग को किसी प्रकार जनवादी पार्टी की श्रेणी में तो नहीं रखा जा सकता, लेकिन यह ज़रूर है कि अवामी लीग ने कुछ ऐसे कदम उठाए जिनसे जमात-ए-इस्लामी और बांग्लादेश नेशनलिस्ट पार्टी को बड़ा आघात पहुंचा। 25 मार्च, 1910 को गठित युद्ध अपराध न्यायाधिकरण के अलावा अवामी लीग ने कुछ ऐसे कदम उठाए जो जमात-ए-इस्लामी और सऊदी अरब की नज़र में उनके ब्रांड के इस्लाम के खिलाफ़ थे। 8 मार्च, 2011 को शेख हसीना ने महिला दिवस के अवसर पर महिलाओं की आज़ादी, उनके काम के अधिकार, सार्वजनिक क्षेत्रों में उन्हें नौकरियां देने और सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में उनकी बराबर की हकदारी का एलान किया।

इसके अगले ही दिन जमात-ए-इस्लामी ने शेख हसीना की भर्त्सना करते हुए इसे इस्लाम-विरोधी कदम करार दिया और एलान किया कि वे ऐसे कार्यक्रम लागू नहीं होने देंगे। इनके सहयोगी संगठन हिफ़ाजत-ए-इस्लाम ने इसके विरोध में ढाका में एक विशाल रैली की, जिसमें न केवल सरकारी संस्थाओं पर हमले हुए बल्कि सड़क पर मौजूद किसी भी महिला को पकड़ कर उसे बेइज्जत किया गया। लेकिन फिलहाल इनके तांडव का मुख्य केंद्र उत्तरी बांग्लादेश है। उत्तरी बांग्लादेश में जमात-ए-इस्लामी, हिफ़ाजत-ए-इस्लाम और छात्र शिबिर ने पिछले छह महीनों से बेहद आक्रामक रुख अपना रखा है।

शाहबाग आंदोलन की शुरुआत के साथ ही जमात-ए-इस्लामी ने फरवरी

से लेकर अब तक ढाका समेत पूरे बांग्लादेश को हड़ताल की गिरफ्त में ले रखा है। युद्ध अपराध न्यायाधिकरण ने जिन 12 आरोपियों पर कार्रवाई की है वे सभी जमात-ए-इस्लामी से ही संबद्ध हैं। शाहबाग आंदोलन के दौरान जब पूरे मार्च महीने में मुक्ति वाहिनी के योद्धाओं की विधवाएं, बूढ़ी मांएं, बेटियां, बूढ़े बाप या जवान बेटे इंसफ की मांग लेकर दिन-रात शाहबाग चौक पर आंदोलन कर रहे थे तो उसी समय छात्र शिबिर और हिफाजत-ए-इस्लाम के 'नए रजाकार' इन लोगों के घरों पर हमले कर रहे थे।

शाहबाग आंदोलन के लिए ब्लॉग चलाने वाला नौजवान अहमद राजीव हैदर छात्र शिबिर के हाथों मौत के घाट उतार दिया गया। आंदोलनकारियों ने हैदर की लाश शाहबाग चौक के बीचों-बीच लाकर रख दी। 15 मार्च को तीन लाख से ज्यादा लोग ब्लॉगर हैदर को श्रद्धांजलि देने शाहबाग चौक पहुंचे। इसी दौरान शाहबाग आंदोलन शाहबाग चौक से भी आगे बढ़ कर ढाका की सड़कों और गलियों तक फैल गया। रजाकारों ने इन बहादुरों के खिलाफ जगह-जगह मोर्चे तैयार किए।

जमात-ए-इस्लामी के ये रजाकार गुंडे इंसफ की मांग कर रहे लोगों पर देसी बम और पत्थरों की बारिश करते रहे। लाखों लोगों के क्रल के लिए जिम्मेवार दिलावर हुसैन सर्ईदी को मौत से बचाने के लिए ये इस्लामी ठेकेदार फिर मौत का खेल खेलने लगे, और दुहाई मानवाधिकार की! एलान इस बात का कि हम मौत की सजा के खिलाफ हैं!

जमात-ए-इस्लामी के अत्याचारों की पराकाष्ठा का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि बांग्लादेश का नारी आंदोलन, जो शुरू से ही सजा-ए-मौत के खिलाफ रहा है, उसने बयान दिया कि हां हम सजा-ए-मौत के खिलाफ आज भी हैं लेकिन जमात के रजाकारों के गुनाह इतने बड़े हैं कि हम दिलावर हुसैन सर्ईदी की सजा-ए-मौत का विरोध नहीं करेंगे। शाहबाग आंदोलन के जन-जागरण मंच ने चौक से एलान किया कि जीने का हक सबको है लेकिन हम इन बारह जघन्य अपराधियों के लिए फांसी की सजा का समर्थन करते हैं। इस संगठन का इतिहास खून में डूबा हुआ है। 1941 से लेकर आज तक भारत, पाकिस्तान और बांग्लादेश में जमात-ए-इस्लामी यही खूनी खेल खेलती आई है। इनके मदरसे मासूम बच्चों के दिमागों में जहर भरते हैं जो आगे चल कर कट्टरपंथ की राह पकड़ लेते हैं।

इसे संयोग कहा जाए या कुछ और, कि इनके काम करने का तरीका ठीक वैसा ही है जैसा राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का है। हिफाजत-ए-इस्लाम का काम

वही है जो हमारे यहां बजरंग दल करता है। छात्र शिविर का काम वही है जो भूमिका अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद निभाती है। हिफाजत-ए-इस्लाम के लोग बजरंग दल की तर्ज पर हथियारों से लैस चलते हैं और किसी भी हद तक जाने में उन्हें कोई तकलीफ नहीं होती। छात्र शिविर के लोग कॉलेजों और विश्वविद्यालयों में आतंक मचाते हैं और वह भी खुलेआम हथियारबंद होकर। कादिर मुल्ला को सजा-ए-मौत सुनाए जाने के बाद एक बार फिर जमात-ए-इस्लामी ने हड़तालों का दौर शुरू किया है। दो दिन की हड़ताल में ढाका के अंदर दो मौतें हुईं, वह भी गरीब रिक्शा चालकों की। उनका कसूर यह था कि हड़ताल के दिन भी वे रोज़ी कमाने निकले थे।

जमात-ए-इस्लामी वहाबियों की तर्ज पर भी इस्लाम की नए सिरे से व्याख्या कर रही है, जिसके सूत्र मौदूदी की किताब जिहाद-ए-इस्लामी में मौजूद हैं। हुकूमत-ए-इलाहिया के नाम पर ये इंसानियत के मुंह पर कालिख पोतने निकले हैं और नारा है मानवाधिकार का। एलान है कि हम सजा-ए-मौत के ख़िलाफ़ हैं! जिन लोगों के हाथ सिर्फ़ एक देश के अंदर तीस लाख लोगों के खून से रंगे हों, जो पाकिस्तानी सेना के साथ मिल कर कराए गए, जिनके माथे पर लिखा हो कि तीन लाख औरतों के बलात्कार के मुजरिम हैं, वे निकले हैं मानवाधिकार का लिबास पहन कर सजा-ए-मौत की मुखालफत हथगोलों, चाकुओं और अन्य असलहों के सहारे करने! अगर इनकी कोशिशें कामयाब हुईं तो बांग्लादेश के मुक्ति आंदोलन की सारी कुर्बानियां बेकार जाएंगी और उसका गौरवशाली इतिहास स्याह भविष्य में डूब जाएगा।

‘जनसत्ता’ (24 सितम्बर, 2013) में प्रकाशित।

अल-क्रायदा और उसके संगी

शनिवार और रविवार की छुट्टियां नैरोबी और पेशावर में आतंकवाद की भेंट चढ़ गईं। खूंखार अल-क्रायदा के साथी संगठन अल-शबाब ने कीनिया की राजधानी नैरोबी में एके-47 और ग्रेनेड से मासूमों की लाशें बिछा दीं।

अगले रोज वहाबी तालिबान ने पेशावर के ऑल सेंट्स चर्च में दो आत्मघाती हमले कर तकरीबन नब्बे लोगों को मौत के घाट उतार दिया।

नैरोबी में मारे जाने वालों का कसूर सिर्फ इतना था कि ये वहाबियत के पैरोकार अल-क्रायदा के सोमालिया स्थित अल-शबाब के दुनिया भर में खिलाफत कायम करने के मंसूबे हामी नहीं थे। पेशावर कांड की जिम्मेदारी जिस तालिबान संगठन ने ली, उसका रिश्ता अल-क्रायदा से छुपा नहीं है। मतलब, दुनिया भर में वहाबियत के पैरोकार अल-क्रायदा और सहयोगी संगठन अपना फन उठाने लगे हैं।

अमूमन अल-क्रायदा का रिश्ता सऊदी अरबिया सहित तमाम अरब देशों और पाकिस्तान और अफगानिस्तान तक ही देखा जाता है। लेकिन इनकी जड़ें दुनिया में जिस तरह से फैली हुई हैं, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि इन्होंने प्रशांत देशों तक अपने मौत का खेल पहुंचा दिया है।

फिलीपींस में अल-क्रायदा का समर्थन और सऊदी अरबिया का धन पाने वाले संगठन सैफ-उल-इस्लाम (अरबी में इस्लाम की तलवार) ने 2011 में पूरे देश में गृहयुद्ध की स्थिति बना दी थी। नेग्रोस ओरिएंटल जैसे छोटे शहर में सैफ-उल-इस्लाम ने इस दौरान जो हालत कर रखी थी, उसकी दहशत से कई दिन तक सारा जनजीवन ठप्प रहा। इसके बाद जांच में तो तथ्य सामने आए, वे दहलाने वाले थे। इस आतंकवादी संगठन ने न केवल हत्याएं, लूटमार और आगजनी की थी, बल्कि बलात्कार की कई घटनाएं भी अंजाम दी थीं। सैफ-उल-इस्लाम में लगभग सभी फिलीपींस के मूल निवासी सक्रिय हैं जिन्हें अरबी

भाषा का ज्ञान चंद मदरसे ही देते हैं। लेकिन संगठन के नाम तैयार होकर अल-क्रायदा से ही आते हैं।

सोमालिया स्थित अल-शबाब का इतिहास बहुत पुराना नहीं है और न ही इस संगठन में सक्रिय सदस्यों की संख्या ही बहुत बड़ी। महज पांच साल पुराने इस संगठन में लगभग पांच हजार हथियारबंद कार्यकर्ता हैं। यह संगठन अल-क्रायदा के मुखिया ऐमान-अल-जवाहरी के इशारे पर चलता है। लेकिन मुख्तार-अल-जुबैर के नेतृत्व में संगठन आतंकवादी हरकतों को अंजाम देता है।

इस संगठन का इतिहास रहा है कि ये आमतौर पर समुदाय विशेष को निशाना न बनाकर सार्वजनिक स्थलों को चिह्नित करके अंधाधुंध हमले करता है। नैरोबी में शनिवार को गुलज़ार बाज़ार पर हमला करके इस संगठन ने इसी तर्ज़ पर हत्याएं कीं। इसका मकसद है, ऐसी दहशत फैलाना जिससे अफ्रीकी देशों में ईसाई और मुसलमानों के बीच तनाव बढ़े और इस्लामी खलीफ़ों का शासन इस देश में लाया जा सके। पाकिस्तान का रुख करें। यहां हालात ज़रा दीगर हैं। यहां आमतौर पर अल-क्रायदा और उसके संगी संगठन ग़ैर वहाबी मुसलमानों, ईसाइयों, हिंदुओं और सिखों को निशाना बनाते हैं। ग़ैर-मुस्लिम समुदायों के संदर्भ में आतंकवादी गतिविधियों पर नज़र डालने के दौरान हमें पाकिस्तानी हुकूमत और उसके कानूनों पर भी एक नज़र डालनी होगी। सरकार ने ईश निंदा कानून नाम से एक काला कानून बना रखा है। इस कानून की रोशनी में ग़ैर-मुस्लिमों द्वारा किसी भी रूप में अल्लाह, मोहम्मद, कुरान हदीस आदि पर कोई आपत्तिजनक टिप्पणी होने पर, उस व्यक्ति को सज़ाए-मौत दी जाती है।

लंबे अर्से से ईसाई समुदाय इसका निशाना रहा है। पंजाब सूबे में ईश निंदा कानून के तहत पिछले कुछ वर्षों में सैकड़ों लोग गिरफ्तार हुए। एक ऐसी ही गिरफ्तारी जनरल मुशर्रफ़ के शासन काल में जोज़फ़ नाम के व्यक्ति की हुई थी। उसे मौत की सज़ा भी सुना दी गई, लेकिन उसके घरवालों ने परवेज़ मुशर्रफ़ से अपील की कि केस पर दोबारा नज़र डाली जाए। परवेज़ मुशर्रफ़ ने अर्जी पाकर जब केस की जांच-पड़ताल करवाई तो मालूम हुआ कि जोज़फ़ के पास बेहद उपजाऊ ज़मीन है, जिसे हथियाने के लिए वहां के दबंग मुसलमान ताक में बैठे थे और वे सारे के सारे अल-क्रायदा के समर्थक थे। जोज़फ़ तो रिहा हो गया। लेकिन उसके जैसे जाने कितने ईसाइयों, हिंदुओं और सिखों को ईश निंदा कानून ने फांसी पर चढ़ाया और उनकी संपत्ति हड़पीं इन्हीं कट्टरपंथियों ने।

साफ है, मुल्क में अल्पसंख्यकों के साथ जो सलूक आतंकवादी संगठन कर रहे हैं, उसमें पाकिस्तान भी बराबर का भागीदार है। ऐसे हादसों की एक

लंबी फेहरिस्त है, जिसमें अब तक हजारों लोग मारे जा चुके हैं। मगर क्रातिलों के खिलाफ किसी भी तरह की कार्रवाई नहीं की गई। शिया समुदाय, जिसे अल-क्रायदा और वहाबी इस्लाम के दायरे से बाहर कर चुके हैं, लगातार आतंकवादी गुटों के निशाने पर रहे हैं। इस वर्ष के शुरू में क्रेटा में अस्सी लोगों की निर्मम हत्या इन्हीं आतंकियों ने की।

लाहौर में दो इलाके ऐसे हैं जहां ईसाई अच्छी खासी तादाद में हैं। योहानाबाद और जोज़फ कॉलोनी। इसी वर्ष मई में इन इलाकों पर हमले हुए, कुछ मौतें हुईं और बड़े पैमाने पर आगज़नी की घटनाएं हुईं। न कोई कार्रवाई हुई, न ही न्याय मिला। पेशावर की दुखद घटना इन्हीं तमाम सिलसिलों की एक कड़ी है।

यह छिपा नहीं है कि जम्हूरियत के दावे के बावजूद पाकिस्तान शुरू से फौजी शासन की गिरफ्त में रहा। मुल्क में मौलाना मौदूदी की जमात-ए-इस्लामी जहर बोती रही, मगर ग़ैर-मुस्लिम फिर भी कमोबेश सुरक्षित ही रहे। बड़े पैमाने पर 1953 में लाहौर में क्रत्ले-आम हुआ तो वह अहमदिया मुसलमानों का हुआ। ऐसा नहीं है कि अल्पसंख्यकों पर हमले नहीं हुए। सिंध में उमेरकोट में कई बार हिंदुओं पर हमले हुए, लाहौर समेत पूरे पंजाब में हिंदुओं और सिखों पर हमले हुए। वजीरिस्तान और पंजाब में सिखों ने हमले झेले। मगर यह हिंसा उसी तरह से थी, जिस तरह से दक्षिण एशिया के अन्य देशों में सांप्रदायिक हिंसा होती है।

लेकिन 1978 में ज़ियाउल हक़ के सत्ता में आने के बाद पाकिस्तान की तस्वीर एकदम बदल गई। जिस तरह से पाकिस्तान का इस्लामीकरण हुआ और कट्टरपंथियों को पनपने में आइएसआइ सहित हुकूमत और खुद सेना ने मदद की, उसका नतीजा यह हुआ कि पाकिस्तान के अल्पसंख्यक हर लम्हा डर के माहौल में जीने लगे। हॉस्टल के कमरों में ईसाइयों के साथ कमरा साझा न करना, डाइनिंग हॉल में उनके साथ खाने से मना करना और अभी हाल ही में एक ईसाई लड़के की हत्या सिर्फ इसलिए कर देना कि उसने मस्जिद में घुसकर पानी पी लिया था, ऐसे कुछ उदाहरण हैं जिनसे ईसाई अल्पसंख्यकों की हालत का अंदाजा लगाया जा सकता है।

अब ऐसे माहौल में अल-क्रायदा जैसे वहाबी फासीवादी संगठन बड़े पैमाने पर मौत का खेल खेल रहे हैं, उसमें पाकिस्तानी सरकार की भूमिका को नज़रंदाज़ नहीं किया जा सकता। खतरनाक आतंकवादियों को बिना शर्त जेल से रिहा करना, आतंकवादियों को शह नहीं देना है तो और क्या है? जिन आतंकवादियों को पाकिस्तान सेना द्वारा मारे जाने के वीडियो और तस्वीरें सोशल

मीडिया पर दिखाई जाती रही हैं, वह दरअसल न तालिबानी हैं और न ही अल-क्रायदा के लोग, बल्कि गरीबों, मजलूमों को मारकर पैगाम दिया जाता है कि आतंकवादियों के खिलाफ पाकिस्तान सरकार और सेना कार्रवाई कर रही है। सच्चाई यह है कि अल-क्रायदा जैसे संगठनों के मुख्यालय पुलिस और सेना की सरपरस्ती में सक्रिय हैं। हथियारबंद प्रशिक्षण खुलेआम वजीरिस्तान के इलाकों में दिए जाते हैं।

बहरहाल, जिस ढंग से पाकिस्तान, मध्य एशिया और अफ्रीका तक अल-क्रायदा, अल-शबाब, सैफ-उल-इस्लाम, लश्करे-तैयबा खुलेआम क्रत्त और खून का खेल खेल रहे हैं, उसमें मायूसी का आलम नज़र आता है। जरूरत इस बात की है कि इन आतंकवादी संगठनों को ये सरकारें न केवल गैर-कानूनी घोषित करें, बल्कि उनका समूल नष्ट करने का बीड़ा उठाएं। अन्यथा मौत के ये सौदागर सारी दुनिया को अपनी चपेट में ले सकते हैं।

‘जनसत्ता’ (25 सितम्बर, 2013) में प्रकाशित।

अफ्रीका और आतंकवाद

हम दक्षिण एशिया के लोग कुछ मुद्दों पर अपने दायरे में सीमित रह कर तमाम समस्याओं को सिर्फ उपमहाद्वीप के संदर्भ में देखते हैं। आतंकवाद का मसला हो तो कहना ही क्या! पड़ोसी है पाकिस्तान।

सब कुछ वहीं तक सीमित कर देना और उसे ही केंद्र मान लेना हितकर भी लगता है और अक्सर चटपटा भी। वहाबी आतंकवाद और उससे जुड़े तार हम सिर्फ पाकिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान तक देखने के आदी हो गए हैं। ज़रा इसे व्यापक पैमाने पर देखा जाए तभी इसकी भयावहता का अंदाजा बेहतर ढंग से लगाया जा सकता है। आतंकवाद और इसके केंद्र सऊदी अरब के जाल अल-क्रायदा के जरिए कहां तक फैले हैं इसका जायजा अफ्रीका के संदर्भ में भी लेना होगा। एक नज़र वहाबी आंदोलन, अल-क्रायदा, सऊदी अरब और अफ्रीका में चल रही गतिविधियों के मद्देनज़र।

वर्ष 2007 में माली के गॉउ शहर में भीषण आतंकवादी हमले के बाद सोमालिया के आतंकवादी संगठन अल-शबाब ने संगीत और नृत्य पर पूरी तरह से प्रतिबंध लगाने की घोषणा की। जगजाहिर है कि अल-शबाब सोमालिया में अल-क्रायदा के सहयोगी संगठन के बतौर सक्रिय है। अल-शबाब के आतंकवादियों ने युगांडा में 11 जुलाई 2010 को 76 लोगों की सिर्फ इसलिए हत्या कर दी कि युगांडा सरकार ने सोमालिया में आतंकवादियों से लड़ने के लिए अपने सैनिक भेजने का फैसला लिया था। अक्टूबर 2011 से लेकर मार्च 2013 तक अल-शबाब ने केन्या में इसी मुद्दे को लेकर बम विस्फोट किए और सैकड़ों जानें ले लीं। केन्या में हाल में ही, 21 सितंबर को भयावह हमले करके लगभग अस्सी लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया।

अल-शबाब के अलावा अफ्रीका में बोको हराम नाम से एक खतरनाक आतंकवादी संगठन लगातार सक्रिय है और यह भी अल-क्रायदा समर्थित है।

हाल में ही इसने नाइजीरिया में उनतीस मासूम छात्रों और एक अध्यापक की हत्या कर दी। ये हत्याएं जो 29 सितंबर को हुईं, बोको हराम की नाइजीरिया में चल रही लगातार बमबारी की ही कड़ी थीं। 25 और 26 सितंबर को नाइजीरिया के फुलातारी और कानूनगरी इलाके में ऐसे ही हमलों में लगभग तीस लोगों की जान गई। बोको हराम का नेतृत्व अबू बकर शेकू अल-क्रायदा का एक खतरनाक वहाबी दरिंदा है जिसने इन हमलों के बाद एलान किया जो एक वीडियो के रूप में वितरित किया गया।

इस वीडियो में अबू बकर शेकू ने एलान किया कि 'दुनिया जान ले कि मैं अल्लाह के अलावा किसी के हाथों नहीं मर सकता। मुझे रोकने की कोशिश न की जाए, मैं रुक नहीं सकता। यह युद्ध उससे ज्यादा खतरनाक है जितना कि तुम सोचते हो। यह युद्ध तुम्हें निगल जाएगा।' आगे यही खतरनाक आतंकवादी जो कहता है उससे अल-क्रायदा के इरादे साफ हो जाते हैं। 'मैं अल्लाह की कसम खाकर कहता हूँ कि नाइजीरिया में लोकतंत्र को जीवित नहीं रहने दूंगा। हम इसके खिलाफ जंग छेड़ रहे हैं और इसे हरा कर छोड़ेंगे। लोगों की सरकार, लोगों द्वारा सरकार और लोगों के लिए सरकार जैसी अवधारणा जल्द खत्म हो जाएगी और अल्लाह की सरकार और अल्लाह के लिए सरकार कायम होगी।'

साफ है कि अल-क्रायदा और उसके सहयोगी संगठन इंसानी खून को पानी की तरह बहा रहे हैं। पाना प्रेस, नाइजीरिया के अनुसार 2009 से लेकर अब तक बोको हराम ने लगभग छत्तीस सौ हत्याएं की हैं और स्कूल, चर्च, मस्जिद, बाजार सहित अनेक सार्वजनिक स्थलों पर हमले किए हैं। हालांकि नाइजीरिया की सेना इनके खिलाफ जंग छेड़े हुए है लेकिन इनकी गतिविधियां रुकने का नाम नहीं लेतीं।

बोको हराम और अल-शबाब की गतिविधियां स्वतःस्फूर्त नहीं हैं। मशहूर सोमाली विद्वान अब्दुल गेलाह लिखते हैं कि 1991 में सोमालिया के राष्ट्र के रूप में बिखरने के साथ ही आम लोग सहारे की तलाश में भटकते रहे। और इसी समय 'चरमपंथ के लिए धन' की मुहिम शुरू हुई जिससे बेरोजगार, भूखे सोमाली नौजवान आकर्षित होने लगे।

इन्हें चाहिए था पेटभर भोजन और सुकून और इसी का फायदा उठाया वहाबी इस्लाम ने। सोमालिया के पूरे गृहयुद्ध के दौरान सऊदी अरब ने कभी भी अपेक्षया शांत उत्तरी सोमालिया की तरफ किसी तरह की सुरक्षा या सहायता का हाथ नहीं बढ़ाया, जबकि दक्षिण सोमालिया की तरफ जहाजों में लद-लद कर वहाबी साहित्य और सामग्री पहुंचती रही। नतीजे के तौर पर दक्षिणी सोमालिया

में अल-शबाब और उसके जरिए पूरे अफ्रीका में बाद के दिनों में बोको हराम को मजबूती मिलती रही।

सोमालिया जो मुख्यतः सूफ़ी परंपरा का अनुयायी रहा है, वहां सऊदी हस्तक्षेप ने वहाबियत का ज़हर भर दिया। अब्दुल गेलाह ने अल-शबाब से लड़ने वाले एक सैनिक का हवाला देते हुए लिखा कि किस तरह इसमें सऊदी अरब की पूरी तरह से मदद अमरीका करता रहा है।

‘सऊदी अरब को बहरीन से जोड़ने वाले पुल से कुछ किलोमीटर की दूरी पर तैनात अमरीका का पांचवां बेड़ा आंखें बंद कर लेता है जब वहाबी अतिवाद से संबंधित सामग्री सोमालिया सहित अन्य अफ्रीकी देशों में भेजी जाती है और दूसरी तरफ अमरीका जिभूती के आस-पास के इलाकों में नवयुवक अफ्रीकियों को गिरफ्तार करके उन्हें यातनाएं देता है जिनका आतंकवाद से कोई लेना-देना नहीं।’

आइए ज़रा अफ्रीका में इन गतिविधियों के लिए खर्च होने वाले धन के स्रोत की तरफ नज़र डालें। 1980 के दशक से मजबूती पकड़ने वाले वहाबी आंदोलन को सऊदी अरब, अमरीकी देख-रेख में लगातार तमाम तरह की सहायता पहुंचाता रहा है जिसमें धन के अलावा ख़तरनाक हथियार भी शामिल हैं। पिछले साल 23 मई को ‘रायटर’ ने लिखा कि यमन जो वहाबी गतिविधियों का केंद्र बन चुका है, वहां से दुनियाभर में अल-क्रायदा के लिए धन और हथियार मुहैया कराया जा रहा है। सऊदी अरब से धन पाकर वहाबी इमाम पूरे अफ्रीका में वहाबी विचारधारा और अल-क्रायदा की गतिविधियां फैला रहे हैं।

वर्ष 2003 में अमरीकी सीनेट समिति ने खुद स्वीकार किया था कि पिछले बीस वर्षों में सऊदी अरब ने वहाबियत के प्रचार और प्रसार के लिए 87 अरब डॉलर खर्च किए हैं। इनमें 210 इस्लामी केंद्र, 1,500 मस्जिदें, 202 कॉलेज और 2,000 मजहबी मदरसे तैयार किए जाना शामिल है। इसी अनुमान के अनुसार सऊदी अरब वहाबी मिशन के लिए प्रतिवर्ष तीन अरब डॉलर खर्च करता है। डेविड मैक कॉरमैक ने ‘एन अफ्रीकन वोटेंक्स: इस्लामिज्म इन सब-सहारा अफ्रीका’ में लिखा कि अफ्रीका में वहाबी विचारधारा फैलाने का रियाद (सऊदी अरब) का तरीका है गैर-सरकारी संगठनों के द्वारा काम करना।

इनमें सबसे महत्वपूर्ण संगठन मुस्लिम वर्ल्ड लीग है। इसे सऊदी सरकार ने तैयार किया और इसकी देखरेख की। मुस्लिम वर्ल्ड लीग के महासचिव डॉ अब्दुल्ला अल तुर्की (जो सऊदी अरब के इस्लामी कार्यकलाप के मंत्री रह चुके हैं) के द्वारा लीग का 99 प्रतिशत धन सऊदी अरब से लीग दफ्तर तक पहुंचता

है। 1972 में एक और सऊदी 'स्वतंत्र संस्था' द वर्ल्ड एसेंबली ऑफ मुस्लिम यूथ तैयार हुई। इस संगठन को अफ्रीकी नवयुवकों के बीच वहाबी विचारधारा फैलाने का काम दिया गया। इसके महासचिव शेख साल्हे बिन अब्दुल अजीज ने फौरन सब-सहारा अफ्रीका में लगभग पचास मस्जिदें बनवाईं जिनमें वहाबी इमाम बिठाए गए। इसके लिए सारा धन सऊदी अरब से ही आया।

वर्ष 1974 से सऊदी फंड फॉर डेवलपमेंट के नाम से अफ्रीका और एशिया में परियोजनाएं तैयार हुईं। सिर्फ सब-सहारा अफ्रीकी देशों में 1975 से लेकर 2002 तक 1.9 अरब डॉलर सऊदी अरब के जरिए पहुंचे। यह सारा का सारा धन इस्लाम फैलाने के नाम पर वहाबियत फैलाने का काम करता रहा है। इसके अलावा गिनी में किंग फैजल मस्जिद के लिए 2.13 करोड़ डॉलर और इसी नाम से चाड में मस्जिद के लिए 1.6 करोड़ डॉलर, माली में 67 लाख डॉलर और कैमरून में 51 लाख डॉलर पहुंचाए गए और हर जगह सऊदी अरब से मान्यता प्राप्त इमाम बिठाए गए जो वहाबियत को फैलाने का काम करते रहे।

अचरज नहीं कि इस धन का एक बड़ा हिस्सा आतंकवादियों के पास पहुंचता है, जिनका रिश्ता अल-क्रायदा समर्थित समूहों से है। सोमालिया स्थित सऊदी अरब के अल-हरामैन चैरिटी का सीधा रिश्ता अल-इत्तेहाद-ए-इस्लामिया से है जो कि अफ्रीका में अल-क्रायदा का ही एक समूह है। सऊदी अरब, अमरीका, अल-क्रायदा और इनके सहयोगी संगठनों द्वारा अफ्रीकी देशों में इन खतरनाक गतिविधियों के लिए इतनी बड़ी मात्रा में धन, ऐसे इस्लाम के नाम पर खर्च किया जाता है जो इस्लाम है ही नहीं। वहाबी इस्लाम, इस्लाम का एक खतरनाक दुश्मन है जो केवल इस्लाम के लिए नहीं, सारी मानवता के लिए खतरा बन चुका है। इन्होंने दक्षिण एशिया में पाकिस्तान और अफ्रीका में सोमालिया को अपनी गतिविधियों का केंद्र बना रखा है। सोमालिया जो लगभग ढाई दशक से अफरातफरी की स्थिति में है और गृहयुद्ध से उबर नहीं पा रहा है, वहां नवयुवकों को लालच देकर बंदूक पकड़ा देना और धीरे-धीरे उनके दिमाग में वहाबियत का जहर भर कर उन्हें कट्टर आतंकवादी बना देना कोई मुश्किल काम नहीं।

बोको हराम, अल-शबाब और हाल ही में बने संगठन अंसार-उल-दीन ने ऐसी स्थिति का भरपूर फायदा उठाया और अफ्रीका के सूफ़ी इस्लाम को वहाबियत की तलवार पकड़ा दी। सऊदी अरब से आने वाले धन से पाकिस्तान में छपकर वहाबी सामग्री अरब के दूरदराज देशों में पहुंचाई जाती है और मस्जिदों, मदरसों और अन्य इस्लामी (वहाबी इस्लाम) संस्थाओं के जरिए आम इंसानों में वहाबियत के बीज बोए जाते हैं और जो इसे न स्वीकारे उसे मौत को स्वीकारना पड़ता है।

यह सारा खेल जिस समय सऊदी अरब की देखरेख में अल-क्रायदा और उसके सहयोगी संगठन कर रहे हैं, उसी समय दो सभ्यताओं के टकराव और आतंकवाद के खिलाफ तथाकथित जंग का एलान करने वाले देश अमरीका द्वारा इन्हें किस तरह का समर्थन हासिल है, इसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अगर खुले तौर पर न सही तो भी मूकदर्शक के रूप में सारी गतिविधियों को होने देना भी आतंकवाद का ही समर्थन है। वरना 2003 की सीनेट की रिपोर्ट के बाद अमरीका ने अफ्रीका में आज तक कोई ऐसा हस्तक्षेप क्यों नहीं किया जिससे इन गतिविधियों पर रोक लगाई जा सके।

इस संदर्भ में एक आखिरी बात यह है कि सऊदी अरब क्या सिर्फ पेट्रोल के पैसे आने के दम पर इन आतंकवादी गतिविधियों को समर्थन दे रहा है? सऊदी अरब की सालाना राष्ट्रीय आय का सात प्रतिशत हिस्सा हज के द्वारा आता है। एक अनुमान के अनुसार यह आय तीन सौ अरब डॉलर प्रतिवर्ष है। कहीं ऐसा तो नहीं कि हज जैसी पवित्र इस्लामी परंपरा से आने वाला धन इंसानी खून बहाने के लिए इस्तेमाल हो रहा हो। जिस तरह से सऊदी अरब और उसके तमाम आतंकवादी संगठन दुनिया भर में इंसानी खून बहा रहे हैं उसमें वे किसी भी हद तक जा सकते हैं।

‘जनसत्ता’ (10 अक्टूबर, 2013) में प्रकाशित।

आतंकी गठजोड़ की शिनाख़्त

रवांडा में छह अप्रैल 1994 से शुरू होकर तकरीबन सौ दिनों के अंदर राज्य नियोजित जनसंहार में तुत्सी और हुतू कबीलों के आठ लाख लोगों ने जान गंवाई। मारे गए लोगों में अधिकतर ईसाई थे। इस खूनी जंग के दौरान रवांडा की राजधानी किगाली में स्थित मुख्य मस्जिद के इमाम ने रवांडा की सारी मस्जिदों के नाम पैगाम भेजा 'अल्लाह की मर्जी है कि हम मजहब का फर्क किए बिना इंसानी खून बहने से रोकें।' पूरे रवांडा में तमाम मस्जिदों के दरवाजे खोल दिए गए और असंख्य तुत्सी और हुतू लोगों को शरण मिली और उनकी जान बचाई जा सकी। अमरीका पर ग्यारह सितंबर 2001 के हमले के बाद रवांडा के तमाम इमामों की सभा बुलाई गई जिसमें 'इस्लामिक कम्युनिटी ऑफ रवांडा' के मुफतियों के प्रमुख शेख सालेह हबीमाना ने बयान जारी किया कि 'इस्लाम का मतलब शांति है। हमारा जिहाद अलग मायने रखता है। यह तुत्सी और हुतू के बीच गलतफहमी के खिलाफ जंग है। हमारी जंग है जख्म भरने के लिए। हमारा संघर्ष है कि एक दूसरे का सम्मान कर सकें और रवांडा के देशवासी बन कर रह सकें।'

एक इस्लाम यह है और दूसरा इस्लाम नाइजीरिया में अल-कायदा समर्थित बोको हराम के हाथों तेजी से पनप रहा है। बोको का स्थानीय 'हौसा' भाषा में अर्थ है फर्जी या जाली। इसका अर्थ बदल कर अब इसे पश्चिमी शिक्षा बना दिया गया है जो कि हराम मानी गई। इस आतंकी बोको हराम का पूरा नाम है 'जमातु अह्लीस सुन्ना लिद्दा-आवति वल-जिहाद' (पैगंबर की शिक्षा और जिहाद के लिए प्रतिबद्ध समूह)। जरा रवांडा के अलग जिहाद की इनकी परिभाषा पर एक नजर। बोको हराम के सरगना अबू बक्र शेकाऊ के शब्दों में 'मुझे अल्लाह के नाम पर कत्ल करने में वैसा ही मजा आता है जैसा कि मुर्गी या किसी जानवर को मारने में आता है।' पिछले साल जनवरी में यू-ट्यूब पर जारी

किए गए वीडियो में जिहाद ऐसी हर चीज और इंसान को खत्म करने का नाम है जो 'इस्लामी' न हो।

वर्ष 2002 में बोको हराम की स्थापना हुई। तब से इसने इतनी दहशत फैलाई कि खुद इस संगठन में फूट पड़ गई। बीते साल जनवरी में बोको हराम से अबू उस्सामता अल-अंसारी ने नए संगठन 'अंसारु' की स्थापना की। एक वीडियो के जरिए अबू उस्सामता अल-अंसारी ने कहा "इस्लाम निर्दोष लोगों की जान लेने के खिलाफ है, चाहे वे ग़ैर-मुस्लिम ही क्यों न हों।" 'द नाइजेरियन स्टैंडर्ड' के अनुसार, अंसारु ने बोको हराम की अमानवीय कारगुजारियों से तंग आकर ऐसा कदम उठाया। लेकिन अंसारु अमरीका और ब्रिटेन की आतंकवादी संगठनों की सूची में मौजूद है। इनका मानना है कि यह मुसलमानों की विश्वव्यापी सुरक्षा के नाम पर पश्चिमी देशों के खिलाफ़ खड़ा एक नया संगठन है, बोको हराम से निकला संगठन नहीं।

इस साल जनवरी में माली में अंसारु ने नाइजीरिया के सैनिकों पर हमला बोला, क्योंकि उनका मानना था कि नाइजीरिया 'माली के इस्लामी साम्राज्य' को खत्म करने के फ्रांसीसी मंसूबों में उसका साथ दे रहा है। जो हो, 'नाइजीरिया डिजर्ट हेराल्ड' में टुकुर मामू की रिपोर्ट से अंदाजा होता है कि इस बात की तसदीक हो चुकी है कि इस्लामी विचारधारा को लेकर इन दोनों संगठनों में मतभेद हैं और दोनों मिलकर काम नहीं कर रहे। इसके अलावा बोको हराम की तर्ज पर अंसारु ने ईसाइयों या आम मुसलमानों पर निशाना नहीं साधा है। उधर बोको हराम ने सिर्फ 2009 से 2011 के दरमियान पूरे नाइजीरिया को खूनी खेल की चपेट में ले लिया।

इस दौरान के मुख्य हमले इस प्रकार हैं—28 जुलाई 2009 को मैदुगुरी पुलिस स्टेशन पर हमला करके लगभग सौ लोगों को मार दिया गया। 7 सितंबर 2010 को बौची जेल पर हमला करके सात सौ कैदियों को निकाला गया जिनका रिश्ता आतंकी गतिविधियों से था। 31 दिसंबर 2010-1 जनवरी 2011 को अबुजा में हुए हमले में सैकड़ों लोग मारे गए। इसी रात मैदुगुरी में अंधाधुंध गोलियां चला कर दर्जनों लोग मौत के घाट उतार दिए गए। 2011 में मई के पूरे महीने में बोको हराम ने समूचे नाइजीरिया में कत्ल-ए-आम चलाया। 26 अगस्त 2011 को अबुजा में संयुक्त राष्ट्र के मुख्यालय पर जबर्दस्त हमला हुआ और कई जानें गईं। 'द नाइजेरियन स्टैंडर्ड' के अनुसार, 2012 से लेकर अक्टूबर 2013 तक बोको हराम के हमलों में लगभग दो हजार हलाक हुए। उससे भी ज्यादा इस संगठन ने 2013 से जो नया तरीका अख्तियार किया उससे पूरा देश दहशत की

गिरफ्त में है।

इस साल सात मई को बामा के सरकारी दफ्तरों और पुलिस स्टेशनों और जेलों में लगभग दो सौ हथियारबंद आतंकी घुसे और पचपन लोगों को मार गिराया। इसी दौरान इन्होंने 105 कैदी भी रिहा किए। सरकारी कार्रवाई के बाद बोको हराम ने पलट कर कार्रवाई की।

बोको हराम के सरगना अबू बक्र शेकाऊ ने तेरह मई को एक वीडियो जारी किया जिसमें उसने कहा कि “इसके सदस्यों को, इनके बीवी-बच्चों को नाइजीरिया की सरकार द्वारा गिरफ्तार किए जाने के बदले में बोको हराम ने सरकारी अफसरान, और नागरिकों के घरों की महिलाओं और लड़कियों को कब्जे में ले लिया है और उनके साथ वही सुलूक किया जाएगा जो ‘गुलामों’ के साथ किया जाता है।” बोको

हराम ऐसी बेबुनियाद मान्यता को इस्लामी नाम देता है जिसके तहत जंग में पकड़ी गई औरतों के साथ आका और गुलाम का रिश्ता होता है जिसमें यौन संबंध भी जायज है। यहां इसका उल्लेख भी जरूरी है कि बोको हराम ने ‘सेक्स जिहाद’ भी जायज ठहराया है जिसके अनुसार जिहादियों को औरतें पेश हों और यौन संबंध बना कर ‘जन्नत की हकदार’ बनें। हां यह जरूर है कि अभी तक सेक्स जिहाद की बात किसी अन्य आतंकी संगठन ने नहीं की।

उसके बाद से बोको हराम ने अपने ‘जिहाद’ में लूटमार, अगवा करना, बंदी बनाना और रिहाई के लिए मोटी रकम वसूलना भी शामिल कर लिया। इसके साथ ही जिहाद और इस्लाम का नया अध्याय लिखने का काम शुरू हो गया। इसी दौरान इस संगठन ने स्कूलों पर पाबंदी लगानी शुरू की। पिछले कुछ महीनों से आम नाइजीरियाई बच्चों को स्कूल भेजने से डर रहे हैं। स्कूल वीरान होने लगे हैं। खासकर नाइजीरिया के दामातुरु, गेदाम, गाशुआ और पोतिस्कुम इलाकों के स्कूल सुनसान पड़े हैं। औरतों की शिक्षा पर बिल्कुल वही पाबंदी है जैसी कि पाकिस्तान में तालिबान ने कर रखी है। आखिर दोनों संगठन अल-कायदा की ही शाखाएं हैं। एक दिसंबर को आइ एडम हिगाजी की एक रिपोर्ट के अनुसार बोको हराम के सदस्य औरतों को अगवा करके उन्हें गुलामों की तरह रखते हैं। इनमें अधिकतर ईसाई औरतें हैं। उनको वहाबी इस्लाम कुबूल करने पर मजबूर किया जाता है। कौन-सा इस्लाम है जिसके नाम पर बोको हराम और अल-कायदा जैसे संगठन ऐसी अमानवीय हरकतें कर रहे हैं!

इस्लामी हुकूमत और शरीया, शिक्षा और असहिष्णुता पर अल-कायदा की तमाम शाखाएं—बोको हराम, सोमालिया में अल-शबाब, फिलीपींस में

अल-सैफ और खुद अल-क्रायदा—एक ही मुकाम पर खड़ी हैं। समानता देखी जानी चाहिए इन सारे संगठनों में। इन तमाम संगठनों का एक ही लक्ष्य है। कोई भी ग़ैर-इस्लामी शिक्षा न ली जाए। साइंस भी इस्लामी तर्ज पर पढ़ाया जाए। हर कानून इस्लाम (वहाबी इस्लाम) की तर्ज पर नाफ़िज़ हो। महिलाओं के लिए सख़्त हिदायतें। इलाज के लिए बिना पुरुष को साथ लिए अकेले जाने पर सजा। बिना परदा घर से बाहर निकलने पर सजा। औरतें खुद कोई वाहन नहीं चला सकतीं। अफ़ग़ानिस्तान की तरह सोमालिया में अल-शबाब और नाइजीरिया में बोको हराम का फरमान कि पुरुष दुकानदारों से औरतें अकेले खरीदारी नहीं कर सकतीं। औरतों के जिस्म का कोई हिस्सा दिख जाने पर पुरुष जो सजा चाहे मुकर्रर करे। कैसे लिबास महिलाएं पहनेंगी इसका निर्धारण पुरुष करेंगे। पति के अलावा किसी पुरुष से संबंध पर संगसारी करके मार देना। किसी त्योहार पर या मनोरंजन के लिए महिलाओं के हिस्सा लेने पर पाबंदी।

यहां एक बात ध्यान में रखनी होगी कि अल-कायदा शाखाएं चाहे नाइजीरिया में (बोको हराम) हों या सोमालिया में (अल-शबाब) या फिर फिलीपींस और मलेशिया में (अल-सैफ और अबू सय्याफ), इनसे इस पूरे उपमहाद्वीप को उतना ही खतरा है जितना कि तहरीक-तालिबान से। जब यह साफ हो चुका है कि इन सब की लगाम अल-कायदा के हाथ है और अल-क्रायदा का मुख्यालय पड़ोस में बिना रोक-टोक न सिर्फ आतंकी गतिविधियां चला रहा है बल्कि उसके सामने बार-बार सरकार घुटने टेकती नज़र आती है तो जो काम बोको हराम, अल-शबाब, अल-सैफ और अबू सय्याफ कर रहे हैं वही इस उप-महाद्वीप में नहीं होगा? क्या मुमकिन नहीं कि कल सेक्स जिहाद को हर आतंकी संगठन जायज करार दे दे? हमारे पड़ोस और हमारे मुल्क में भी लूटमार, अगवा करना, बंदी बनाना और रिहाई के लिए मोटी रकम वसूलना एक आम बात बन जाए?

जब इन सब का आपसी रिश्ता छिपा नहीं है तो आखिर सब एक ही राह पर चलेंगे। इनका एक खतरनाक चेहरा जमात-उद-दावा और लश्कर-ए-तैयबा का मुखिया पाकिस्तान में खुलेआम सभाएं कर रहा है। तालिबान और अल-क्रायदा से अपना रिश्ता छिपाता नहीं। सरकारी संरक्षण में काम भी कर रहा है और सरकार को खुली चुनौती भी देता है। हाफ़िज़ सईद एक ऐसा नाम है जिस पर कोई हाथ डालना नहीं चाहता। अजीब बात है कि एक तरफ अमरीका लश्कर-ए-तैयबा को आतंकी संगठनों की सूची में रखता है मगर कभी उसको निशाना नहीं बनाया जो इसका सरगना है। जबकि बिना रोक-टोक वह जब चाहे

पाकिस्तान और अफ़ग़ानिस्तान में किसी को भी मार गिराता है।

यहां पाकिस्तान स्थित आतंकी संगठनों का बोको हराम के साथ जिक्र बेबुनियाद नहीं। छह मई को वर्ल्ड प्रेस के टेरर ट्रेंड बुलेटिन में इस खतरे और इन तमाम संगठनों के गठजोड़ का विस्तार से वर्णन किया गया है।

अब खतरा दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। आतंकवाद के खिलाफ जंग का नारा देने वाला अमरीका मजे से नजारा देख रहा है। सऊदी अरब अपनी वहाबी विचारधारा को दुनिया पर थोपने के लिए खरबों पेट्रो डॉलर फूंक रहा है। वह अमरीकी असलहों का सबसे बड़ा खरीदार है। सऊदी अरब असलहों की खरीदारी में इस वर्ष 6.8 अरब डॉलर लगा चुका है। कहां जा रहे हैं ये असलहे और कौन इन्हें इस्तेमाल कर रहा है? कहीं ये असलहे आतंकी गतिविधियों में तो इस्तेमाल नहीं हो रहे?

‘जनसत्ता’ (12 दिसंबर, 2013) में प्रकाशित।

बलात्कार : शब्दकोशों की कंगाली

यह शहीद दामिनी के लिए लिखा गया एक और शोक-सन्देश या उसके हित के लिए लिया गया एक अन्य संकल्पमात्र नहीं है। यह दस्तावेज़ दक्षिण एशिया की सभी दामिनियों के बारे में सोचता है। विशेषत बलात्कार के सवाल पर और अन्य प्रकार के यौन उत्पीड़न के सम्बन्ध में। प्रश्न यह है कि इन घटनाओं पर हमारा समाज कैसी प्रतिक्रिया देता है। यहां प्रश्न है पौरुष और शक्ति के प्रदर्शन का और महिलाओं के निरंतर दमन का। लेकिन दामिनी के मामले ने सम्पूर्ण दक्षिण एशिया को विचलित किया है और उसकी शहादत ने इन प्रश्नों को विमर्श की मुख्यधारा से जोड़ दिया है।

घटनाओं का क्रम : 16 दिसंबर रविवार को रात के 9:15 बजे राम सिंह और उसके साथियों द्वारा द्वारिका तक पहुँचाने का प्रस्ताव दिए जाने पर दक्षिण दिल्ली के मुनीरका से दामिनी और उसके पुरुष साथी दोनों बस पर चढ़े। हालाँकि, बस में मौजूद पुरुष, पीड़िता के पुरुष मित्र से यह जवाब मांग रहे थे कि वह इतनी रात गए दामिनी के साथ क्यों है? लेकिन जब उसके पुरुष मित्र ने जानबूझ कर की जा रही इस छिंटाकशी का जवाब दिया तो उन लोगों ने उसे बुरी तरह पीटा। इन सबके बीच हस्तक्षेप करना दामिनी को महंगा पड़ा क्योंकि इसके बाद उन व्यक्तियों ने एक-एक करके उसका बलात्कार किया। इतना ही नहीं आरोपियों में से एक ने जैक का एक हिस्सा, जोकि गाड़ी के पहिये बदलने के काम आता है, लेकर उसकी योनि में डाल दिया। जब इस पर भी संतोष नहीं हुआ तो उन्होंने उसकी आंते भी खींच डालीं।

इस भयानक कुकर्म के बाद बस में सवार व्यक्तियों ने उन दोनों को बस से बाहर फेंक दिया और वे दोनों कई घंटों तक बगैर कपड़ों के सड़क पर पड़े रहे जबकि वहां से गुजरने वालों ने उनकी कोई मदद नहीं की। फिर कुछ लोगों ने हिम्मत जुटाकर अपने गर्म कपड़े उन्हें दिए और पुलिस को सूचित किया।

पहले दिल्ली और फिर सिंगापुर में जिंदगी से संघर्ष करते हुए दामिनी 29 दिसंबर को चल बसी।

क्या दामिनी के साथ जो हुआ वह सिर्फ बलात्कार और हत्या का मामला था? क्या उसके शरीर पर जैक का जो इस्तेमाल किया गया वह बलात्कार के लिए था? हम इसे क्या कहेंगे? शब्द कम पड़ रहे हैं इसकी भर्त्सना को और शब्दकोष मौन हैं। सिर्फ जबरन पेनेट्रेट किये जाना ही बलात्कार नहीं है। बलात्कार तो शब्दों और बातों से किया जाता है। बलात्कार नज़रों से होता है। बलात्कार तब होता है जब 'मर्द' किसी औरत को देखने के बाद उसके साथ सेक्स की कल्पना करने लगते हैं। किसी भी स्त्री को देखने के बाद और उसके साथ हमबिस्तर होने का खयाल करते हुए आखिर ये 'पुरुष' क्या कर रहे होते हैं? जबकि स्त्री को इसका कोई इल्म नहीं होता। हां, ऐसा करके वह पुरुष उस स्त्री का बलात्कार ही करता है। छेड़छाड़, यौन उत्पीड़न और महिलाओं में बेहिसाब लज्जा अब बीते समय की बातें हैं। यह पुरुषों द्वारा गढ़े गए शब्द हैं जिससे उनके अपराध की गंभीरता कम हो सके। कानून इन शब्दों-वाक्यों का समर्थन करता है क्योंकि कानून-निर्माता आमतौर पर 'पुरुष' ही होते हैं। दंड की श्रेणी से भी इसका गहरा सम्बन्ध है।

आज एक स्त्री पूछ सकती है कि क्या जब बहुत छोटी उम्र में दूध वाले ने उसकी जाँघों के बीच हाथ डाला था तो वह बलात्कार था? जब वह एक बच्ची थी और उसके रिश्तेदार ने उसकी छाती को महसूस किया था, क्या वह बलात्कार था? जब उसके किसी चाचा-ताऊ ने उसे अपनी गोद में बैठाया था और उसने उनकी रेंगती हुई उँगलियों को अपने जिस्म पर महसूस किया था, क्या वह बलात्कार था? जब उसे पढ़ाने वाला मास्टर बार-बार उसकी जाँघों पर हाथ रखता था, क्या वह बलात्कार था?

पिछले कुछ दिनों में शीर्ष के नेताओं से लेकर पुलिस अधिकारियों ने और अन्य कई लोगों ने एक स्वर में कहा कि महिलाएं छोटे कपड़े पहनकर बलात्कार को बुलावा देती हैं। महिलाओं के राष्ट्रीय कमिशन की कर्ताधर्ता ममता शर्मा से अपेक्षा की जाती है कि वे औरतों की आवाज़ बनेंगी। ज़रा देखिये उनका क्या कहना है '(उन्हें) अपने पहनावे को लेकर सावधान होना चाहिए।' दिल्ली की मुख्यमंत्री शीला दीक्षित ने महिलाओं को सलाह दी है कि वे घर से बाहर निकलते वक़्त उचित ढंग के कपड़े पहनें। जुलाई में, दिसपुर में एक बार से बाहर निकलने पर एक लड़की के साथ हुई सामूहिक छेड़छाड़ के कैमरे में कैद किये जाने के बाद कांग्रेस के नेता विजय वर्गीय टिप्पणी करते हैं, असम भी इसी राह

पर चल रहा था... 'महिलाएं भड़काऊ कपड़े पहनती हैं जोकि समाज को विचलन की ओर बढ़ा रहा है... फैशन, जीवनशैली और व्यवहार भारतीय संस्कृति के अनुरूप होने चाहिए।'

लिकर उद्योगपति, जिसके सालाना कैलेण्डर में हर पेज पर बिकनी पहनने वाली औरतों की तस्वीरें होती हैं, वह भी महिलाओं के पहनावे पर सवाल उठाता है और इसे बलात्कार के लिए ज़िम्मेदार ठहराता है।

इस प्रकार की टिप्पणियां बलात्कार का समूचा दोष स्त्रियों पर डालती हैं। 'यदि तुम ऐसे कपड़े पहनोगी, तुम बलात्कार को बुलावा दोगी।' क्या यह बलात्कार नामक कुकर्म का प्रत्यक्ष समर्थन नहीं है?

10 जनवरी को एक ढाई साल की बच्ची का बलात्कार किया गया। 16 जनवरी को एक सात वर्षीय बच्ची का बलात्कार किया गया। इन बच्चियों को किस प्रकार के उचित कपड़े पहनने चाहिए थे?

हम रोज ही पुरुषों को बिना कमीज के सड़कों पर देखते हैं। क्या इससे कोई महिला उत्तेजित हो जाती है? लेकिन क्लीवेज या टांगों के ज़रा भर दिखने से बलात्कार की घटनाएं हो जाती हैं। आखिर कोई भी महिला सड़क पर निर्वस्त्र तो नहीं घूमती।

एक और प्रश्न जो लोग बार-बार उठाते रहते हैं। जो लोग स्त्रियों को उचित कपड़े पहनने और खुद को ढांक कर रखने की सलाह देते हैं उनमें से अधिकांश औरतें ही हैं। क्या मासूम सवाल है? जैसे उन्हें खुद नहीं पता कि कोई भी स्त्री यह करती है तो उसके पीछे क्या कारण हैं। यदि कोई स्त्री पितृसत्तात्मक विचारधारा रखती है तो इसके लिए कौन ज़िम्मेदार है? सदियों से पुरुषों ने मिलकर स्त्री की मानसिकता को ऐसा रूप दिया है जो उनकी इच्छाओं और सुविधा के अनुकूल हो। स्त्रियों में यह विचार प्रक्रिया आखिर किसने डाली कि हर बात उनके विरोध में जाती है लेकिन इसके बावजूद भी वे इस मानसिकता की अभिभावक और संरक्षक बनी रहती हैं? इस हद तक कि वे सती प्रथा का भी समर्थन करती हैं। लोकसभा में विपक्ष की नेता जो स्वयं एक महिला हैं, यह उपदेश देती हैं कि एक विधवा को अपना जीवन किस तरह व्यतीत करना चाहिए? यह कैसे संभव हो सका? परिवार, आस-पड़ोस, खिलौने, कपड़े, मुहावरे, कहानियां आदि सभी उसे बचपन से यही सिखाते हैं कि वह अपना व्यवहार वैसा ही रखे जैसा पुरुष चाहता हो और इस तरह पितृसत्तात्मक सोच को बल मिलता रहता है। इन सबसे बढ़कर इन पुरुष निर्मित मान्यताओं पर धर्म के नाम की मोहर लगा लो और बस आपको औरतों से अपने अनुकूल आचरण

करवाने का लाइसेंस मिल गया। अब अपने हाथ गंदे क्यों करना! तुम्हारा काम तो पीड़ित वर्ग खुद कर रहा है। और फिर इसके बाद छत पर खड़े होकर चीखो कि औरतें खुद औरतों की दुश्मन हैं।

जब हम मर्द, अपना पौरुष सिद्ध करते हैं, तो यह हमारे ज्ञान और कर्मों से प्रतिबिंबित होता है। यह हमारे शरीर और कुकर्मों से भी प्रतिबिंबित होता है। आज के समाज में जहाँ स्त्रियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में लड़कों और पुरुषों को मीलों पीछे छोड़ रही हैं यह पुरुष 'मर्द' में बदल जाता है और समाज और मानवता के चेहरे पर कालिख पोत देता है। जब स्कूल और कॉलेज के परिणाम घोषित होते हैं तो पिता गर्व महसूस करता है कि उसकी बेटी ने सर्वोत्तम प्रदर्शन किया और वही पिता दूसरे अवसर पर खुद एक 'मर्द' में तब्दील हो जाता है और कोई भी अज्ञात या ज्ञात स्त्री/लड़की उसकी भूख का शिकार बनती है।

अपना पौरुष सिद्ध करने के लिए, मर्द को सिर्फ एक ही जगह मिलती है और वह है औरत की जाँघों के बीच... जहाँ वह अपने पशु बल का प्रयोग करता है... उन्ही जाँघों के बीच वह अपनी पाशविक शक्ति का प्रयोग करता है जहाँ से निकलकर वह उगते सूरज को देख सका था। और ऐसे हर कुकर्म के लिए हम एक ही शब्द का इस्तेमाल करते हैं... बलात्कार... नहीं... अब हमें इन कुकर्मों की व्याख्या और परिभाषा के लिए एक पूरा शब्दकोष बनाना होगा। अनगिनत कमरों में औरतें रोज बलात्कार का शिकार हो रही हैं... जहां मर्द अपनी बीवियों का बलात्कार कर रहे हैं... क्योंकि वे सम्भोग के लिए राजी नहीं हैं। और असहाय स्त्री भावशून्य होकर बगैर हिले-डुले उसके साथ सोती है। वह अंधेरे में कमरे की छत को ताकती है। और अब कमरे की दीवारें 'पति' के बुलंद खर्पाटों से गूंजने लगती हैं जबकि बेचारी 'पत्नी' एक शून्य में खो जाने के बाद ख्वाबों में ही चैन पाती है। अगली सुबह वही बलात्कारी बेशर्मी से पुरुष होने का अधिकार जताता है... "क्या चाय नाश्ता तैयार है?" और बिना किसी पश्चाताप के चल देता है। आखिरकार वह उसकी 'पत्नी' है और वह उसका 'मालिक' है! यह उसकी ज़मीन है और उसे अपनी मर्जी से कभी भी इस ज़मीन को जोतने का अधिकार है। यह आदमी अपना सारा जीवन 'आत्म-सम्मान' से बिताता है वह स्वयं को लेशमात्र दोषी नहीं मानता। कोई उसे बलात्कारी कहता भी नहीं। एक के बाद एक बच्चे पैदा करने के बाद भी आज अरबों महिलाएं नहीं जानती कि सेक्स से प्राप्त होने वाला आनंद कैसा होता है। वो इन बच्चों को अपनी पूरी कूवत और प्यार से पालती हैं। इन बच्चों में से कई 'मर्द' होते हैं और आगे चलकर कहीं और अपनी मर्दानगी साबित करते हैं।

और गैंग रेप!!! एक पुरुष के रूप में तो हमें शर्मसार होना चाहिए। पुरुषों को एक प्रश्न अपने आप से बार-बार पूछना चाहिए। ये 'मर्द' जब बारी-बारी से किसी का बलात्कार करते हैं तो भला इन्हें 'इरेक्शन' कैसे होता है? एक व्यक्ति दूसरे के खत्म कर लेने का इंतजार करता है। आखिर कैसे उन्हें इरेक्शन होता है जब लोगों की भीड़ तालियाँ पीटते हुए बलात्कार देखती है, जैसा कि 2002 में गुजरात में हुआ था।

नहीं... तेज़ रफ्तार से भागती कारों और बसों में जो होता है वह सिर्फ बलात्कार नहीं है। या जो सड़क के किसी सुनसान कोने में होता है वह भी सिर्फ बलात्कार नहीं है। इस मामले में हमारी बोली-भाषा और हमारे शब्दकोश आज भी बहुत गरीब हैं। हम अपनी ज़रूरतों के मुताबिक शब्दों का आविष्कार करते हैं। हमारे यहाँ रंडी, वेश्या, जिस्म बेचने वाली आदि, जैसे कई शब्द हैं जिनका प्रयोग स्त्रियों के लिए किया जाता है, लेकिन क्या उन लोगों के लिए एक भी शब्द है हमारे पास जो इन इंसानी जिस्मों के खरीदार होते हैं?

हम उनके लिए जानवर, राक्षस, जंगली जैसे शब्दों का इस्तेमाल करते हैं लेकिन वास्तव में इन शब्दों का इस्तेमाल करके हम जानवरों का अपमान करते हैं। यह इस पृथ्वी पर पायी जाने वाली एक बिलकुल अलग प्रजाति है जिसका अभी नामकरण होना है। आखिरकार भाषा की भी अपनी सीमाएँ हैं। भाषा आज भी विकसित हो रही है। नए शब्द आयेंगे और तब इस प्रजाति का नामकरण होगा। और फिर हम इनके लिए अलग चिड़ियाघर भी बनायेंगे। इस प्रजाति को घेराव के अन्दर रखा जायेगा और वहाँ पर एक साइनबोर्ड लगा होगा जो कहेगा कि "जानवरों को परेशान न करें।" इस पर यह भी लिखा होगा कि "इन पर थूके बगैर यहाँ से आगे न जाएँ।"

कौन कहता है कि दामिनी मर चुकी है। उस चिता की आग जिस पर दामिनी को रखा गया था हमारे खून में दौड़ती रहेगी। वह आग हमारे सीनों में धधकेगी। हमारी आंखें उस ज्वाला से भरी होंगी। हमारी सांसों से भी वही आग निकलेगी जो हमने दामिनी की चिता से ली थी। लेकिन हमारी आंखें सिर्फ हमारी नहीं होंगी। दामिनी भी इनसे देख रही होगी। हमारी सांसें दामिनी की भी सांसें होंगी। दामिनी मरी नहीं है। दामिनी सभी फूलों में खिल रही है और देखो उस फूल की खुशबू सारी फिजाँ में बिखरी हुई है। लेकिन हर फूल के सीने में उसकी आग भी धधक रही है। उस चिता की राख से हज़ारों दामिनियाँ पैदा हो रही हैं। हज़ारों हाथ आज दामिनी के पिता और भाई के हाथों को थामे हुए हैं। उसका हाथ उसकी प्यार करने वाली माँओं और बहनों के गले में सज रहा है।

उसके हाथ अत्याचारियों, बलात्कारियों और हत्यारों तक पहुंच रहे हैं। सावधान हो जाओ कमीनो! तुम हमारे आंसुओं के सैलाब में डूब जाओगे। तुम दामिनी की आग में जल जाओगे। हमारी आंखों में देखो। ये तुम्हारे दिल को छलनी कर देंगी। अरे मर्दों... अपने खुद के घर के चारों ओर देखो ये जानवर कहीं भी हो सकते हैं।

इन मुद्दों पर विमर्श का यही मौका है। हमें लिंग न्याय, समानता और महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के इस संघर्ष को जारी रखने का प्रण लेना चाहिए। हमें यह प्रण लेना चाहिए कि हम न तो सिर्फ महिलाओं के खिलाफ हो रही सभी प्रकार की हिंसा के विरोध में आवाज़ उठाएंगे बल्कि इस अनवरत संघर्ष का हिस्सा भी बनेंगे जिससे कि दक्षिण एशिया महिलाओं के लिए एक सुरक्षित स्थान बन सके। हम यह प्रतिज्ञा लेते हैं कि हम दामिनी के बलिदान को व्यर्थ नहीं जाने देंगे। यदि दामिनी ने महिलाओं के विरुद्ध हो रही हिंसा के मुद्दे को मुख्यधारा से जोड़ा है तो हम इसे यूँ ही मरने नहीं देंगे। दामिनी तुम्हारी आत्मा को शांति मिले।

‘समरथ’ में प्रकाशित।

